हिंदी भाषा और लिपि

धीरेन्द्र वर्मा

रीडर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

१९३३

भूमिका

भूमिका

अ. संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान

क. संसार की भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण[1]

वंश क्रम के अनुसार भाषातत्वविज्ञ संसार की भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त करते हैं।[2] हिन्दी भाषा का संसार में कहाँ स्थान है यह समझने के लिये इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन सब भाषाओं की गणना एक कुल में की जाती है जिन के संबंध में यह प्रमाणित हो चुका है कि ये सब किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। नये प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्तन संभव है। अब तक की खोज के आधार पर संसार की भाषाएँ निम्नलिखित मुख्य कुलों में विभक्त की गई हैं—

१. भारत-यूरोपीय कुल—हमारे दृष्टि कोण से इस का स्थान सब से प्रथम है। कुछ विद्वान इस कुल को आर्य्य, भारत-जर्मनिक अथवा जफ़ेटिक[3] नामों से भी पुकारते हैं। इस कुल की भाषाएँ उत्तर भारत, अफ़गानि-

---

[1] इ. ब्रि. (११वाँ संस्करण), 'फ़िलॉलोजी' शीर्षक लेख, भाग २१, पृ० ४२६ इ०।

[2] भाषा क्या है, उस की उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्य मात्र की क्या कोई एक मूल भाषा थी इत्यादि प्रश्न भाषा विज्ञान के विषय से संबंध रखते हैं अतः प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से ये पूर्ण रूप से बाहर हैं।

[3] जफ़ेटिक नाम बाइबिल के अनुसार मनुष्य जाति के वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफ़ेटिक के अतिरिक्त मनुष्य जाति के दो अन्य विभाग सेमि-

स्तान, फ़ारस तथा प्रायः संपूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, पाली, ज़ेन्द, पुरानी फ़ारसी, ग्रीक, लेटिन इत्यादि प्राचीन भाषाएँ इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में अंग्रेज़ी, फ्राँसीसी, जर्मन, नई फ़ारसी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बँगला तथा गुजराती आदि भाषाएँ हैं।

२. **सेमिटिक कुल**—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओं के केन्द्र जैसे फ़ोनेशिया, आरमीय तथा असीरिया के लोगों की भाषाएँ इसी

टिक तथा हैमिटिक के नाम से बाइबिल में किए गए हैं। इनमें से भी प्रत्येक के नाम पर एक एक भाषा कुल का नाम पड़ा है। मनुष्य जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में संदेह होने पर जफ़ेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अब भी प्रचलित हैं। भारत-जर्मनिक से तात्पर्य उन भाषाओं से लिया जाता था जो पूरब में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती हैं। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयर्लैंड की केल्टिक भाषा भी इसी कुल की है, तब यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरम्भ में भाषा-शास्त्र में जर्मन विद्वानों ने अधिक कार्य किया था और यह नाम भी उन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अब भी इस कुल का यही नाम प्रचलित है। आर्य-कुल नाम सरल तथा उपयुक्त था, किन्तु एक तो इससे यह भ्रम होता था कि आर्य-कुल की भाषाएँ बोलनेवाले सब लोग आर्य जाति के होंगे, जो सत्य नहीं है, इस के अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय उपशाखाओं का संयुक्त नाम आर्य उपकुल पड़ चुका था, अतः यह सरल नाम छोड़ देना पड़ा। भारत-यूरोपीय नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और यूरोप में बोली जाने वाली सभी भाषाओं की गणना इस कुल में होनी चाहिए। किन्तु भारत में ही द्राविड़ इत्यादि दूसरे कुलों की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस नाम में दूसरी त्रुटि यह है कि भारत और यूरोप के बाहर बोली जाने वाली ईरानी भाषा की उपशाखा का उल्लेख इस में नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस कुल का यही नाम प्रचलित हो गया है। अंग्रेज़ी तथा फ्राँसीसी विद्वान इस कुल को भारत-यूरोपीय नाम से ही पुकारते हैं।

कुल की थीं। इन प्राचीन भाषाओं के नमूने अब केवल शिला-लेखों इत्यादि में मिलते हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा जिस में मूल बाइबिल लिखी गई थी और प्राचीन अरबी भाषा जिस में क़ुरान है, इसी कुल की हैं। आजकल इस कुल की उत्तराधिकारिणी वर्तमान अरबी तथा हबशी भाषाएँ हैं।

३. हैमिटिक कुल—इस कुल की भाषाएँ उत्तर अफ़्रीका में बोली जाती हैं जिन में मिश्र देश की प्राचीन भाषा काप्टिक मुख्य है। प्राचीन काप्टिक के नमूने चित्र लिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ़्रीका के समुद्र-तट के कुछ भाग में प्रचलित लीबियन या बर्बर, पूर्व भाग के कुछ अंश में बोली जाने वाली एथिओपियन तथा सहारा मरुभूमि की हौसा भाषा इसी कुल में हैं। अरब के मुसलमानों के प्रभाव के कारण मिश्र देश की वर्तमान भाषा अब अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री-भाषा काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल निवासी, जो काप्टिक नाम से ही प्रसिद्ध हैं, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं।

४. तिब्बती-चीनी कुल—इस कुल को बौद्ध कुल नाम देना अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जापान को छोड़ कर शेष समस्त बौद्ध धर्मावलम्बी देश, जैसे चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के अन्दर के प्रदेश, इसी कुल की भाषाएँ बोलनेवालों से बसे हैं। संपूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया में इस कुल की भाषाएँ प्रचलित हैं। इन सब में चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक चीनी भाषा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

५. यूरल-अलटाइक कुल—इस को तूरानी या सीदियन कुल भी कहते ह। इस कुल की भाषाएँ चीन के उत्तर में मंगोलिया, मंचूरिया तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की है। यूरोप में भी इसकी एक शाखा गई है जिस की भिन्न भिन्न बोलियाँ रूस के कुछ पूर्वी भागों में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान् जापान तथा कोरिया की भाषाओं की गणना भी इसी कुल में करते हैं। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी कुल में रखते हैं।

६. द्राविड़ कुल—इस कुल की भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं जिन में मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनारी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये उत्तर भारत की आर्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं।

७. **मैले-पालीनेशियन कुल**—मलाका प्रायद्वीप, प्रशांत महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों तथा अफ़्रीका के निकटवर्ती मडागास्कर द्वीप में इस कुल की भाषाएँ बोली जाती हैं। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी कुल की है। भारत में संथालों इत्यादि की कोल-भाषाएँ इसी कुल में गिनी जाती हैं। मलय साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में तो ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक के लेख इसी कुल की भाषाओं में मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिन्दू काल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

८. **बंटू कुल**—इस कुल की भाषाएँ दक्षिण अफ़्रीका के आदिम निवासी बोलते हैं। जंज़ीबार की स्वाहिली भाषा इसी कुल में है। यह व्यापारियों के बहुत काम की है।

९. **मध्य-अफ़्रीका कुल**—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू कुलों के बीच में शेष मध्य-अफ़्रीका में एक तीसरे कुल की बोलियाँ बोली जाती हैं। इन की गिनती मध्य-अफ़्रीका कुल में की गई है। ब्रिटिश सूडन की भाषाएँ इसी कुल में हैं।

१०. **अमेरिका की भाषाओं का कुल**—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों की बोलियों को एक पृथक् कुल में स्थान दिया गया है। मध्य-अफ़्रीका की बोलियों की तरह इन की संख्या भी बहुत है तथा इनमें आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी थोड़ी दूर पर बोली में अन्तर हो जाता है।

११. **आस्ट्रेलिया तथा प्रशान्त महासागर की भाषाओं के कुल**—आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा टस्मेनिया के मूल निवासियों की भाषाएँ एक कुल के अन्तर्गत रक्खी जाती हैं। प्रशान्त महासागर के छोटे छोटे द्वीपों में दो अन्य भिन्न कुलों की भाषाएँ बोली जाती हैं।

१२. **शेष भाषाएँ**—कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक ठीक ठीक नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ काकेशिया प्रदेश की भाषाओं को किसी कुल में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। इनमें जार्जियन का प्रचार सब से अधिक है। यूरोप की बास्क तथा यूटस्कन नाम की भाषाएँ भी बिलकुल

निराली हैं। संसार के किसी भाषा कुल में इन की गणना नहीं की जा सकी है। यूरोप के भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं से इन का कुछ भी संबंध नहीं है।

ख. भारत-यूरोपीय कुल[1]

संसार की भाषाओं के इन बारह मुख्य कुलों में भारत-यूरोपीय कुल से हमारा विशेष संबंध है। जैसा बतलाया जा चुका है, इस कुल की भाषाएँ प्रायः संपूर्ण यूरोप, ईरान, अफ़गानिस्तान तथा उत्तर भारत में फैली हुई हैं। इन्हें प्रायः दो समूहों में विभक्त किया जाता है जो 'केन्टम्' और 'शतम्' समूह कहलाते हैं।[2] प्रत्येक समूह में चार चार उपकुल हैं। इन आठों उपकुलों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

१. आर्य्य या भारत-ईरानी—इस उपकुल में तीन मुख्य शाखाएँ हैं। प्रथम में भारतीय आर्य भाषाएँ हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषाएँ। एक तीसरी शाखा दर्द या पैशाची भाषाओं की भी मानी जाने लगी है। इनका विशेष उल्लेख आगे किया जायगा।

---

[1] इ. ब्रि. (१४ वाँ संस्करण), दे० 'इंडो-यूरोपियन' शीर्षक लेख में भाषा संबंधी विवेचन।

[2] भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं को दो समूहों में विभक्त करने का आधार कुछ कंठ देशीय मूल वर्णों (क, ग, ख, घ) का इन समूहों की भाषाओं में भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समूह में ये व्यंजन ही रहते हैं, किन्तु दूसरे में ये ऊष्म (sibilants) हो जाते हैं। यह भेद इन भाषाओं में पाए जाने वाले "सौ" शब्द के दो भिन्न रूपों से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समूह की भाषाओं में से एक है, 'सौ' के लिए 'केन्टम्' शब्द आता है; किन्तु संस्कृत में, जो दूसरे समूह की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहिला समूह बिलकुल यूरोपीय है और 'केन्टम् समूह' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समूह में पूर्व-यूरोप, ईरान तथा भारत की आर्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। यह 'शतम् समूह' कहलाता है।

२. **आरमेनियन**—आर्य उपकुल के पश्चिम में आरमेनियन है। इस में ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओं के बीच में है।

३. **बाल्टो-स्लैवोनिक**—इस उपकुल की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में प्रायः संपूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आर्य उपकुल की तरह इस की भी शाखाएँ हैं। बाल्टिक शाखा में लिथूएनियन, लेटिश, और प्राचीन प्रशियन बोलियाँ हैं। स्लैवोनिक शाखा में बलगेरिया की प्राचीन भाषा, रूस की भाषाएँ, सर्वियन, स्लोवेन, पोलैंड की भाषा, ज़ेक अथवा बोहेमियन और सर्व ये मुख्य भेद हैं।

४. **अलबेनियन**—'शतम् समूह' की अन्तिम भाषा अलबेनियन है। आरमेनियन की तरह इस पर भी निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव अधिक है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता।

५. **ग्रीक**—'केन्टम् समूह' की भाषाओं में यह उपकुल सब से प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि होमर ने 'ईलियड' तथा 'ओडेसी' नामक महाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुक़रात तथा अरस्तू के मूल ग्रन्थ भी इसी में हैं। आज कल भी यूनान देश में इसी प्राचीन भाषा की बोलियों में से एक का नवीन रूप बोला जाता है।

६. **इटैलिक या लैटिन**—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लैटिन भाषा के कारण यह उपकुल विशेष आदरणीय हो गया है। यूरोप की संपूर्ण वर्तमान भाषाओं पर लैटिन और ग्रीक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में भी विज्ञान के शब्दों का निर्माण इन्हीं प्राचीन भाषाओं के सहारे होता है। इटली, फ़्रांस, स्पेन, रूमानिया तथा पुर्तगाल की वर्तमान भाषाएँ लैटिन ही की पुत्रियाँ हैं।

७. **केल्टिक**—इस उपकुल की भाषाओं में दो मुख्य भेद हैं। एक का वर्तमान रूप आयर्लैंड में मिलता तथा दूसरे का ग्रेट ब्रिटेन के स्काटलैंड, वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है। इस उपकुल की पुरानी गाल भाषा अब जीवित नहीं है।

८. **जर्मनिक या ट्यूटानिक**—इसका प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। प्राचीन नार्स भाषा से निकट ऐतिहासिक काल में स्वीडेन, नार्वे, डेन्मार्क तथा आइसलैंड की भाषाएँ निकली हैं। जर्मन, डच, फ़्लेमिश तथा अंग्रेजो भाषाएँ इसी कुल में हैं।

ग. आर्य्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल

भारत-यूरोपीय कुल के इन आठ उपकुलों में आर्य्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है इसको तोन मुख्य शाखाएँ हैं।—१. ईरानी, २. पैशाची या दर्द, तथा ३. भारतीय आर्य भाषा।

१. **ईरानी**[१]—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के तीन भेद मिलते हैं—(i) पुरानी फ़ारसी के सबसे प्राचीन नमूने पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवस्ता में मिलते हैं। अवस्ता के सबसे पुराने भाग ईसा से लगभग चौदह शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। अवस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत मिलतो जुलती है। इसमें आश्चर्य भो नहीं, क्योंकि ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्य्य वर्ग का मानते थे। इसका उल्लेख इनके ग्रंथों में बहुत स्थलों पर आया है। अवस्ता के बाद पुरानी फ़ारसी भाषा के नमूने कोलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला-खंडों और ईंटों पर पाए गए हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध हखामनीय वंश के महाराज दारा (५२२-४८९ पू० ई०) के शिलालेख हैं। इन लेखों में दारा अपने आर्य्य होने का उल्लेख गर्व के साथ करता है। (ii) पुरानी फ़ारसी के बाद माध्यमिक-फ़ारसी का काल आता है। इसका मुख्य रूप पहलवी है। ईसवी तीसरी से सातवीं शताब्दी तक ईरान में सासन वंशी राजाओं ने राज्य किया था। उनके संरक्षण में पहलवी साहित्य ने बहुत उन्नति की थी। (iii) नई-फ़ारसो का सबसे प्राचीन रूप

---

[१] इ. ब्रि., १४ वाँ संस्करण, 'ईरानियन लैंग्वेजेज़ एंड पर्शियन'।
लि. स., भूमिका, भा० १, अ० ९, 'ईरानियन ब्रांच'।

फ़िरदौसी के शाहनामे में मिलता है। फ़िरदौसी ने सेमिटिक कुल की भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में अधिक नहीं मिलने दिया था, परन्तु आज कल साहित्यिक फ़ारसी में अरबी शब्दों की भरमार हो गई है। रूसी तुर्किस्तान की ताजीकी, अफ़गानिस्तान की पश्तो तथा बलूचिस्तान की बलूची भाषाएँ नई फ़ारसी की ही प्रशाखाएँ हैं।

२. **पैशाची**[1]—यह माना जाता है कि मध्य एशिया की ओर से आर्य्य लोग भारत में कदाचित दो मुख्य मार्गों से आए थे। एक तो हिंदू-कुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से और दूसरे वक्षु (Oxus) नदी के उद्गम स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतों को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आने वाले समस्त आर्य्य उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गए होंगे इसमें संदेह है। कम से कम कुछ आर्य्य हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में अवश्य रह गए होंगे। इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृत का विशेष रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आज कल इन भाषाओं के बोलने वाले काश्मीर तथा उसके उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पाए जाते हैं। यह भाषाएँ भारतीय-असंस्कृत-आर्य-भाषाएँ कहला सकती हैं। इनका दूसरा नाम पिशाच या दर्द भाषाएँ भी है। काश्मीरी भाषा इन्हीं में से एक है। इस पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि कुछ दिनों पूर्व तक यह भारत की शेष आर्य भाषाओं में गिनी जाती थी। काश्मीरी भाषा प्रायः शारदा लिपि में लिखी जाती है। मुसलमान लोग फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

३. **भारतीय आर्य भाषा**—यह शाखा भी तीन कालों में विभक्त की जाती है—प्राचीन काल, मध्यकाल, तथा आधुनिक काल। (i) प्राचीन काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिन्ह नहीं रहा है। (ii) मध्यकाल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाली, अशोक की धर्मलिपियों की

---

[1] लि. स., भूमिका, भा० १, अ० १०।

भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ इसी काल में गिनी जाती हैं। (iii) आधुनिक काल में भारत की वर्तमान आर्य भाषाएँ हैं। इनके भिन्न भिन्न रूप आजकल समस्त उत्तर भारत में बोले जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनमें हिंदी, बँगला, मराठी तथा गुजराती मुख्य हैं। इस शाखा की भाषाओं का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान क्या है यह अब स्पष्ट हो गया होगा। ऊपर दिये हुये पारिभाषिक नामों के सहारे संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संसार के भाषा समूहों में भारत-यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय-आर्य्य शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिन्दी है।

आ. भारतीय आर्य्य भाषाओं का इतिहास

क. आर्य्यों का आदिम स्थान तथा भारत में आगमन[1]

यह स्पष्ट है कि भारत की अन्य आधुनिक आर्य्य भाषाओं के समान हिन्दी भाषा का जन्म भी आर्य्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। भारतीय आर्य्यों की तत्कालीन भाषा धीरे-धीरे हिन्दी भाषा के रूप में कैसे परिवर्त्तित हो गई, यहाँ इसी पर विचार करना है। किन्तु सब से पहिले इन भारतीय आर्य्यों के आदिम स्थान के संबंध में कुछ जान लेना अनुचित न होगा[2]।

---

[1] लि. स., भूमिका, भा० १, अ० ८।

[2] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में आर्य्यों के भारत आगमन के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य्य लोगों का मूल स्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य-सृष्टि हुई थी और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में भी आर्य्य लोग वहीं से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर लोकमान्य पंडित बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्त्ती प्रदेश में आर्य्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादित किया था।

हमारे पूर्वज आर्य्यों का मूल वासस्थान कहाँ था, इस संबंध में बहुत मतभेद है। भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा दक्षिण-पूर्व यूरोप में कहीं रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय कुल की यूरोपीय, ईरानी तथा भारतीय प्रशाखाएँ जहाँ पर मिली हैं, उसी के आस-पास कहीं इन भाषाओं के बोलने वालों का मूल स्थान होना चाहिए, क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागों में विभक्त हुए होंगे। सब से पहले यूरोपीय शाखा अलग हो गई थी, क्योंकि उसकी भाषाओं और शेष आर्य्यों की भारत-ईरानी भाषाओं में बहुत

इस कल्पना का खंडन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक-इण्डिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्य्यों का मूलस्थान भारत में ही सरस्वती नदी के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के अन्दर के हिस्से में कहीं पर था। उनके मतानुसार प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण कदाचित् यही था। यहीं से जा कर आर्य्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्य्यों के पश्चिम की ओर बसने वाली कुछ अनार्य्य जातियाँ, जिनकी भाषा पर आर्य्य भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलनिवासियों को विजय करके वहाँ जा बसी थीं। यूरोपीय भाषाओं में इसी लिए आर्य्य भाषा के चिह्न बहुत कम पाए जाते हैं। वास्तव में वे आर्य्य भाषाएँ हैं ही नहीं।

जो कुछ हो, आर्य्यों के मूलस्थान के विषय में निश्चयपूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्य्यों का आदिम स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था। इस स्थान से ईरान तथा भारत की ओर आने के मार्ग के संबंध में दो मत हैं। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग 'कैस्पियन समुद्र' के उत्तर से मध्य एशिया में हो कर माना जाता था। थोड़े दिन हुए पश्चिम फ़ारिस तथा टर्की में कुछ प्राचीन आर्य्य देवताओं के नाम (मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य) एक लेख पर मिले हैं। यह लेख लगभग २५०० पू० ई० काल का माना जाता है। इस

भेद है। यह शेष आर्य्य कदाचित् बहुत समय तक साथ रहते रहे। बाद को एक शाखा ईरान में जा बसी और दूसरी भारत में चली आई। इन दोनों शाखाओं के लोगों के प्राचीनतम ग्रंथ अवस्ता और ऋग्वेद हैं, जिनकी भाषा एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्तन करने पर दोनों भाषाओं का रूप एक हो जाता है।

भारत में आने वाले आर्य्य एक ही समय में नहीं आए होंगे, किन्तु संभावना ऐसी है कि ये कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य्य लोग भारत में दो बार में अवश्य आए थे[1]। ऋग्वेद तथा बाद के संस्कृत साहित्य में भी इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं।[2] यदि वे एक दूसरे से बहुत समय के अनन्तर आए होंगे, तो इनकी

कारण एक नवीन मत यह हो गया है कि इंडो-यूरोपियन बोलने वालों का एक समूह काले समुद्र के पश्चिम से हो कर आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी समूह में से कुछ लोग ईरान में बसते हुए आगे मध्य एशिया तथा भारत की ओर बढ़ सकते हैं। मध्य एशिया की प्रशाखा के लोग हिन्दूकुश की घाटियों में हो कर बाद को दर्दिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित् जा बसे हों। ये ही वर्तमान पैशाची या दर्द भाषा के बोलने वालों के पूर्वज रहे होंगे।

[1]भाषा-शास्त्र के नियमों के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदों पर विचार करने के अनन्तर हार्नली साहब भी (हा. ई. हि. ग्रै., भू० पृ० ३२) इसी मत पर पहुँचे थे। उनके मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे, एक शौरसेनी भाषा समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इसका प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी कुछ-कुछ इसी मत की पुष्टि करते हैं। (लि. स. भूमिका, भा० १, पृ० ११६)।

[2]ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओं में दिवोदास के पौत्र पंजाब के राजा सुदास का वर्णन समकालीन की भाँति है। राजा सुदास की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है

भाषा में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार में आने वाले आर्य्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे, किन्तु दूसरी बार में आने वाले आर्य्य किस मार्ग से आए थे इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संभावना ऐसी है कि ये लोग काबुल की घाटी के मार्ग से नहीं आए, बल्कि गिलगित और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे।

पंजाब में उतरने पर इन नवागत आर्य्यों को अपने पुराने भाइयों से सामना करना पड़ा होगा, जो इतने दिनों तक इनसे अलग रहने के कारण कुछ भिन्न-भाषा-भाषी हो गए होंगे। ये नवागत आर्य्य कदाचित् पूर्व पंजाब में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इनके चारों ओर पूर्वागत आर्य्य बसे हुए थे। धीरे-धीरे ये नवागत आर्य्य फैले होंगे। संस्कृत साहित्य में एक 'मध्यदेश'[1]

कि उन्होंने पुरु नाम की एक अन्य आर्य्य जाति को, जो पूर्व यमुना के किनारे रहती थी, विजय किया था। पुरु लोगों को 'मृध्रवाच' अर्थात् अशुद्ध भाषा बोलने वाले कह कर संबोधन किया है। उत्तर-भारत के आर्य्यों में इस भेद के होने के चिह्न बाद को भी बराबर मिलते हैं। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वसिष्ठ और पूरब के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनबन का बहुत कुछ उल्लेख है। विश्वामित्र ने रुष्ट हो कर वसिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वसिष्ठ को बहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पांचालों का युद्ध भी इस भेद की ओर संकेत करता है। लैसन साहब ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पंचाल लोग कुरुओं की अपेक्षा पहले से भारत में बसे हुए थे। रामायण से भी इस भेद-भाव की कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्य-देश के पूर्व में कोशल जनपद के राजा थे, किन्तु उन्होंने विवाह मध्यदेश के पश्चिम केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगों का मूलस्थान सतलज के निकट इक्षुमती नदी के तट पर था। ये सब अनुमान तथा कल्पनायें पश्चिमी विद्वानों की खोज के फलस्वरूप हैं।

[1] इस शब्द के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए ना. प्र. प., भा० ३ अं० १ में लेखक का 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख।

शब्द आता है। इसका व्यवहार आरंभ में केवल कुरु-पंचाल और उसके उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिए हुआ है। बाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमिभाग की सीमा में वृद्धि हुई है। संस्कृत ग्रंथों ही के आधार पर हिमालय और विन्ध्य के बीच में तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमिभाग 'मध्यदेश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में बसने वाले लोग उत्तम माने गए हैं और उनकी भाषा भी प्रामाणिक मानी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्य्यों की ही बस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्य्यों से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्य्य भाषाओं में भी यह भेद स्पष्ट है। प्राचीन मध्यदेश की वर्तमान भाषा हिन्दी चारों ओर की शेष आर्य्य भाषाओं से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् है। इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् साहित्यिक संस्कृत का उत्पत्ति स्थान भी शूरसेन (मथुरा) प्रदेश ही मानते हैं।

ख. प्राचीन भारतीय आर्य्य भाषा काल[1]

(१५०० पू० ई०—५०० पू० ई०)

भारतीय आर्य्यों की तत्कालीन भाषा का थोड़ा बहुत रूप अब केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न देश कालों में हुई थी, किंतु उनका संपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल में होने के कारण उसमें भाषा का भेद अब अधिक नहीं पाया जाता। ऋग्वेद का संपादन पश्चिम 'मध्य देश' अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग में हुआ था, अतः यह इस भूमिभाग के आर्य्यों की भाषा का बहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्य्यों की अपनी बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर अवश्य होगा। उस समय के आर्य्यों की बोली का शुद्ध रूप अब हमें कहीं नहीं मिल सकता। उसकी जो थोड़ी बहुत बानगी साहित्यिक

[1] लि. स., भूमिका, भा० १, अ० ११, १२।

भाषा में आगई हो, उसी की खोज की जा सकती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई भी आधार नहीं हैं। ऋग्वेद का रचना काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्य्यों की शुद्ध बोली प्राचीन-भारतीय-आर्य्य-भाषा कहला सकती है। इस काल की बोल-चाल की भाषा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। आर्य्यों की इस साहित्यिक भाषा में परिवर्तन होता रहा। इस के नमूने ब्राह्मण ग्रंथों और सूत्र ग्रंथों में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बाँधना आरंभ किया। पाणिनि ने (३०० पू० ई०) उस को ऐसा जकड़ा कि उस में परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया। आर्य्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका प्रयोग उस समय से अब तक संपूर्ण भारत में विद्वान लोग धर्म और साहित्य में करते आए हैं। साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्य्यों की बोल चाल की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती जुलती आर्य्यों की मूल बोली भी धीरे धीरे बदली होगी। जिस समय 'मध्यदेश' में संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहाँ के जन समुदाय की बोली[1] के नमूने अब हमें प्राप्त नहीं हैं।

किंतु पूर्व में मगध अथवा कोसल की बोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप (यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक काल में मगध आदि पूर्वी प्रान्तों की भी बोली भिन्न रही होगी) उस बोली में बुद्ध भगवान के धम्म प्रचार करने के कारण सर्व मान्य हो गया। इस मध्यकालीन-भारतीय-आर्य्य-भाषा-

[1] साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगों की कुछ बोलियाँ भी अवश्य थीं, इसके प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण शास्त्र जाननेवाले केवल विद्वान् ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे तथा साधारण लोग 'प्राकृत भाषा' (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।

काल की मगध अथवा कोसल की बोली का कुछ नमूना हमें पाली में मिलता है। वास्तव में पाली में लोगों की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है। उत्तर भारत के आर्य्यों की बोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल के इस के भिन्न भिन्न रूप उत्तर भारत की वर्तमान बोलियों और उन के साहित्यिक रूपों में मिलते हैं। इस अंतिम काल को आधुनिक-भारतीय-आर्य्य-भाषा काल नाम देना उचित होगा। खड़ी बोली हिंदी इसी तृतीय काल की मध्य-देश की वर्तमान साहित्यिक भाषा है।

इन तीनों कालों के बीच में बिलकुल अलग अलग लकीरें नहीं खींची जा सकतीं। ऋग्वेद में जो एक आध रूप मिलते हैं, उन को यदि छोड़ दिया जाय, तो मध्य काल के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले पहल अशोक की धर्म्म-लिपियों में (२५० पू० ई०) पाए जाते हैं। यहाँ यह प्राकृत प्रारम्भिक अवस्था में नहीं है किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। मध्य काल की भाषा से आधुनिक काल की भाषा में परिवर्तन इतने सूक्ष्म ढंग से हुआ है कि दोनों के मध्य की भाषा को निश्चित रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी इन तीनों कालों में भाषाओं की अपनी अपनी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। प्रथम काल में भाषा संयोगात्मक है तथा संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा संयोगात्मक ही रही है, किंतु संयुक्त स्वरों और संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दों में तो प्रायः केवल स्वर ही स्वर रह गए हैं, जो एक आध व्यंजन के सहारे जुड़े हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई और स्वरों के बीच में फिर संयुक्त वर्ण डाले जाने लगे। वर्तमान बाह्य समुदाय की कुछ भाषाएँ तो आजकल फिर संयोगात्मक होने की ओर झुक रही हैं। इस प्रकार वे प्रथम काल की भाषा का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

ग. मध्यकालीन भारतीय आर्य्य भाषा काल
(५०० पू० ई०—१००० ई०)

इस का उल्लेख किया जा चुका है कि प्रथम काल में बोलियों का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्व प्रदेश में पूर्वागत आर्य्यों की बोली और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्य देश' में नवागत आर्य्यों की बोली, जिस का साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नहीं, इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१. पाली तथा अशोक की धर्म लिपियाँ (५०० पू० ई०—१ पू० ई०)—द्वितीय प्राकृत काल में भी बोलियों का यह भेद पाया जाता है। इस संबंध में महाराज अशोक की धर्म्म लिपियों से पूर्व का हमें कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता। इन धर्म्म लिपियों की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर भारत की भाषा में कम से कम तीन भिन्न भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नहीं, इस संबंध में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस काल की साहित्यिक भाषा पाली कदाचित् अर्द्ध मागधी क्षेत्र की प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी।

२. साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ (१ ई०-५०० ई०)—लोगों की बोली में बराबर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्म्मलिपियों की भाषाएँ ही बाद को "प्राकृत" के नाम से प्रसिद्ध हुईं। मध्यकाल में संस्कृत के साथ साथ साहित्य में इन प्राकृतों का भी व्यवहार होने लगा। इनमें काव्य ग्रंथ तथा धर्म पुस्तकें लिखी जाने लगीं। संस्कृत नाटकों में भी इन्हें स्वतंत्रतापूर्वक बराबर की पदवी मिलने लगी। समकालीन अथवा कुछ समय के अनन्तर होने वाले विद्वानों ने इन प्राकृत भाषाओं के भी व्याकरण रच डाले। साहित्य और व्याकरण के प्रभाव के कारण इनके मूल रूप में बहुत अन्तर हो गया। इन प्राकृतों के साहित्यिक रूपों के ही नमूने आजकल हमें प्राकृत-ग्रंथों में

देखने को मिलते हैं। उस समय की बोलियों के शुद्ध रूप के संबंध में हम लोगों को अधिक ज्ञान नहीं है। तो भी अशोक की धर्म्मलिपियों की भाषा की तरह उस समय भी पूर्वी और पश्चिमी दो भेद तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था और पूर्वी का मागधी प्राकृत, अर्थात् मगध या दक्षिण विहार की भाषा। इन दोनों के बीच में कुछ भाग की भाषा का रूप मिश्रित था, यह अर्द्ध-मागधी कहलाती थी। इस अंतिम रूप से अधिक मिलती जुलती महाराष्ट्री प्राकृत थी, जो आजकल के बरार प्रान्त और उसके निकटवर्त्ती प्रदेश में बोली जाती थी। इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक भिन्न भाषा बोली जाती थी, जो प्रथम प्राकृत काल में सिंधु नदी के तट पर बोली जानेवाली भाषा से निकली होगी। इस भाषा की स्थिति का प्रमाण द्वितीय प्राकृत काल की भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से मिलता है।

३. अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई०–१००० ई०)—साहित्य में प्रयुक्त होने पर वैयाकरणों ने 'प्राकृत' भाषाओं को कठिन अस्वाभाविक नियमों से बाँध दिया, किन्तु जिन बोलियों के आधार पर उनकी रचना हुई थी, वे बाँधी नहीं जा सकती थीं। लोगों की ये बोलियाँ विकास को प्राप्त होती गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजो और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सन्मुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा-तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त' हुई भाषाएँ होगा।

जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाएँ हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों का भी भाग्य जगा और इनको भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। साहित्यिक अपभ्रंशों के लेखक अपभ्रंशों का आधार प्राकृतों को मानते थे। उनके मत में यह 'प्राकृतोऽपभ्रंश' थीं। ये लेखक तत्कालीन बोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे, शुद्ध अपभ्रंश अर्थात् लोगों की असली बोली में नहीं लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतों के समान साहित्यिक अपभ्रंशों से भी लोगों की तत्कालीन

असली बोली का ठीक पता नहीं चल सकता। तो भी यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे। इनके नाम नागर, व्राचड़ और उपनागर थे। इनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहाँ आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचंद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। व्राचड़ अपभ्रंश सिन्ध में बोली जाती थी। उपनागर अपभ्रंश व्राचड़ तथा नागर के मेल से बनी थी अतः यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की बोली होगी। अपभ्रंशों के संबंध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचंद्र हैं। इन्होंने केवल नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कंडेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशों के संबंध में अधिक सहायता नहीं मिलती। इन अपभ्रंश भाषाओं का काल छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाएँ द्वितीय काल की अन्तिम अवस्था की द्योतक हैं।

घ. आधुनिक भारतीय आर्य्य भाषाकाल

(१००० ई० से वर्तमान समय तक)

इनमें भारत की वर्तमान आर्य्य भाषाओं की गणना है। इनकी उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी, बल्कि अपभ्रंशों से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का संबंध है। इनमें से गुजराती और राजस्थानी का संपर्क शौरसेनी के नागर

अपभ्रंश के रूप से अधिक है। बिहारी, बँगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिए प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिन्धी के लिए वैयाकरणों को व्राचड़ अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लहंदा के लिए एक केकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह व्राचड़ अपभ्रंश से मिलती जुलती होगी। पंजाबी का संबंध भी केकय अपभ्रंश से होना चाहिए किन्तु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है। पहाड़ी भाषाओं के लिये खस अपभ्रंश की कल्पना की गई है किन्तु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित हो गई थीं।[1]

---

[1] अपभ्रंशों या प्राकृतों और आधुनिक आर्य भाषाओं का इस तरह का संबंध बहुत संतोषजनक नहीं मालूम पड़ता। उदाहरण के लिये बिहारी, बँगला, उड़िया तथा आसामी भाषाओं का संबंध मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। यदि इसका केवल इतना तात्पर्य हो कि मागधी अपभ्रंश के रूपों में थोड़े से ऐसे प्रयोग पाये जाते हैं जो आजकल इन समस्त पूर्वीय आर्यभाषाओं में भी मिलते हैं तब तो ठीक है। किन्तु यदि इसका यह तात्पर्य हो कि ५०० ई० से १००० ई० के बीच में बिहार, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में केवल एक बोली थी जिसका साहित्यिक रूप मागधी अपभ्रंश है तब यह बात संभव नहीं मालूम होती। एक बोली बोलनेवाली जनता भी यदि इतने विस्तृत भूमि-खंड में फैल कर अधिक दिन रहेगी तो उसकी एक बोली के अनेक रूपान्तर हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार मागधी प्राकृत समस्त पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक भाषा तो भले ही रही हो किन्तु १ ईसवी से ५०० ईसवी के बीच में इस प्राकृत से संबंध रखने वाली एक ही बोली समस्त पूर्वी प्रदेशों में बोली जाती हो यह संभव नहीं प्रतीत होता। मेरी धारणा तो यह है कि मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषायें मगध प्रदेश की बोली के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषायें रही होंगी। मगध के राज-

वर्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग होना कम से कम तेरहवीं शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य प्रारम्भ हो गया था और अपभ्रंशों का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि मध्यकालीन-भारतीय-आर्य्य-भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की

नैतिक प्रभाव के कारण यहाँ की बोली के आधार पर बनी हुई ये साहित्यिक भाषायें समस्त पूर्वी प्रदेशों में मान्य हो गई होंगी। इन प्राकृत तथा अपभ्रंश कालों में भी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मिथिला तथा काशी प्रदेशों की बोलियाँ भिन्न भिन्न रही होंगी। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण अपभ्रंश तथा प्राकृत काल के इन प्रदेशों की भाषा के नमूने हमें उपलब्ध नहीं हो सकते। मेरे अनुमान से बोलियों का यह भेद ६०० पू० ई० के लगभग भी कदाचित् मौजूद था। इस भेद का मूलाधार आर्यों के प्राचीन जनपद के विभागों से संबंध रखता है। मेरी धारणा है कि १००० पू० ई० के लगभग काशी, मगध, विदेह, अंग, बंग आदि जनपदों के आर्यों की बोलियों में आज के इन प्रदेशों की बोलियों की अपेक्षा अधिक साम्य रहते हुये भी ये एक दूसरे से कुछ भिन्न अवश्य रही होंगी। तात्पर्य यह है प्रत्येक जनपद की प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में कुछ विशेषतायें रही होंगी जो विकास को प्राप्त होकर आजकल की भिन्न भिन्न भाषायें तथा बोलियें हो गई हैं। अतः आधुनिक भाषाओं और बोलियों का मूलभेद कदाचित् १००० पू० ई० तक पहुँचता है।

शूरसेनी आदि अन्य अपभ्रंशों तथा प्राकृतों के संबंध में भी मेरी यही कल्पना है। शूरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी, राजस्थानी गुजराती, तथा पश्चिमी हिन्दी निकली हो यह समझ में नहीं आता। शूरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश शूरसेन प्रदेश अर्थात् आजकल के ब्रज प्रदेश की उस समय की बोलियों के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषायें रही होंगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशों में भी आजकल की भाषाओं तथा बोलियों के पूर्व रूप

आधुनिक-भारतीय-आर्य्य-भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ होगा। भारत की राजनीतिक उथल पथल में इसी समय एक स्मरणीय घटना हुई थी; १००० ईसवी के लगभग ही महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण किया था। इन आधुनिक भारतीय-आर्य्य-भाषाओं में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलित है, अतः उसका जन्म काल भी दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग मानना होगा।

प्रचलित रहे होंगे जिनका प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उनके अवशेष अब हमें नहीं मिल सकते। आजकल भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति है।

आज बीसवीं सदी ईसवी में भागलपुर तक समस्त गंगा की घाटी में केवल एक साहित्यिक भाषा हिन्दी है जिसका मूलाधार मेरठ-बिजनौर प्रदेश की खड़ी बोली है। किन्तु साथ ही मारवाड़ी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली आदि अनेक बोलियाँ अपने अपने प्रदेशों में जीवित अवस्था में मौजूद हैं। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण बीसवीं सदी की इन अनेक बोलियों के नमूने भविष्य में नहीं मिल सकेंगे। केवल खड़ी बोली हिन्दी के नमूने जीवित रह सकेंगे। किन्तु इस कारण पाँच सौ वर्ष बाद यह कहना कहाँ तक उपयुक्त होगा कि पचीसवीं शताब्दी में गंगा की घाटी में पाई जाने वाली समस्त बोलियाँ खड़ी बोली हिन्दी से निकली हैं। उस समय के भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में खड़ी बोली हिन्दी गंगा की घाटी की बोलियों के निकटतम अवश्य होगी किन्तु यह तो दूसरी बात हुई।

प्रत्येक आधुनिक भाषा तथा बोली के प्रा. भा. आ. तथा म. भा. आ. काल के क्रमबद्ध उदाहरण मिलना संभव नहीं है। अतः इस विषय पर शास्त्रीय ढंग से विवेचन हो सकना असंभव है। तो भी अपने देश तथा अन्य देशों की आधुनिक परिस्थिति को देखकर इस तरह का अनुमान लगाना बिलकुल स्वाभाविक होगा। कुछ प्रदेशों के संबंध में थोड़ा बहुत क्रमबद्ध अध्ययन भी संभव है। हिन्दुस्तान की आधुनिक बोलियों के प्रदेशों के प्राचीन जनपदों से साम्य के संबंध में ना. प्र. प., भा० ३, अं० ४ में विस्तार के साथ विचार प्रकट किये गये हैं।

इ. आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें

क. वर्गीकरण

भाषा तत्व के आधार पर ग्रियर्सन साहब[1] आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त करते हैं जिनके अन्दर छः भाषा समुदाय मानते हैं। यह वर्गीकरण निम्न-लिखित कोष्ठक में दिखलाया गया है :—

	बोलने वालों की संख्या १९२१ की जन संख्या के आधार पर
अ. बाहरी उपशाखा	
पश्चिमोत्तरी समुदाय	करोड़—लाख
१. लहंदा	० —५७
२. सिंधी	० —३४
दक्षिणी समुदाय	
३. मराठी	१ —८८
पूर्वी समुदाय	
४. उड़िया	१ — ०
५. बंगाली	४ —९३
६. आसामी	० —१७
७. बिहारी	३ —४३
आ. बीच की उपशाखा	
बीच का समुदाय	
८. पूर्वी हिंदी	२ —२६
इ. भीतरी उपशाखा	
अन्दर का समुदाय	

[1] लि. स., भूमिका, अ० ११, पृ० १२० ।

९.	पश्चिमी हिंदी	४ —१२
१०.	पंजाबी	१ —६२
११.	गुजराती	० —९६
१२.	भीली	० —१९
१३.	खानदेशी	० — २
१४.	राजस्थानी	१ —२७
पहाड़ी समुदाय		
१५.	पूर्वी पहाड़ी या नैपाली	० — ३
१६.	बीच की पहाड़ी[1]	० — ०
१७.	पश्चिमी पहाड़ी	० —१७

ग्रियर्सन महोदय के मतानुसार बाहरी उपशाखा की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उच्चारण तथा व्याकरण संबंधी कुछ ऐसे साम्य पाये जाते हैं जो उन्हें भीतरी उपशाखा की भाषाओं से पृथक् कर देते हैं।[2] उदाहरणार्थ भीतरी उपशाखा की भाषाओं के *स* का उच्चारण बाहरी उपशाखा की बंगला आदि पूर्वी समुदाय की भाषाओं में *श* हो जाता है तथा पश्चिमोत्तरी समुदाय की कुछ भाषाओं में *ह* हो जाता है। संज्ञा के रूपांतरों में भी यह भेद पाया जाता है। भीतरी उपशाखा की भाषायें अभी तक वियोगावस्था में हैं किन्तु बाहरी उपशाखा की भाषायें इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्य्य भाषाओं के समान संयोगावस्था को प्राप्त कर चली हैं। उदाहरणार्थ हिन्दी में संबंध कारक *का*, *के*, *की* लगा कर बनाया जाता है। इन चिन्हों का संज्ञा से पृथक् अस्तित्व है। यही कारक बंगला में, जो बाहरी उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में—*एर* लगा कर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाग हो जाता है। क्रिया के रूपांतरों में भी इस तरह के भेद पाये जाते हैं जैसे हिन्दी में तीनों पुरुषों के सर्वनामों

---

[1] १९२१ की जनसंख्या में बीच की पहाड़ी बोलने वालों की भाषा प्रायः हिंदी लिखी गई है अतः इनकी संख्या केवल ३८५३ दिखलाई गई है।

[2] लि. स., भूमिका, अ० ११।

के साथ केवल एक *मारा* कृदन्त रूप का व्यवहार होता है किन्तु बँगला तथा बाहरी समुदाय की अन्य भाषाओं में अधिक रूपों का प्रयोग करना पड़ता है।

आ. भा. आ. भाषाओं को दो या तीन उपशाखाओं में विभक्त करने के सिद्धान्त से चैटर्जी महोदय सहमत नहीं हैं और इस सम्बन्ध में उन्होंने पर्याप्त प्रमाण[1] भी दिये हैं। चैटर्जी महोदय का वर्गीकरण संक्षेप में नीचे लिखे ढंग से दिखलाया जा सकता है। ग्रियर्सन साहब के समुदायों के विभाग से उनका वर्गीकरण बहुत कुछ साम्य रखता है:—

क. उदीच्य (उत्तरी)
- १. सिंधी
- २. लहंदा
- ३. पंजाबी

ख. प्रतीच्य (पश्चिमी)
- ४. गुजराती
- ५. राजस्थानी

ग. मध्यदेशीय (बीच का)
- ६. पश्चिमी हिन्दी

घ. प्राच्य (पूर्वी)
- ७. पूर्वी हिन्दी
- ८. बिहारी
- ९. उड़िया
- १०. बंगाली
- ११. आसामी

ङ. दाक्षिणात्य (दक्षिणी)
- १२, मराठी

---

[1] चै., बे. लै., § २९-३१, § ७६-७९।

[2] चै., बे. लै., पृ० ६ मानचित्र।

पहाड़ी भाषाओं का मूल आधार चैटर्जी महोदय पैशाची दर्द या खस को मानते हैं। बाद को मध्यकाल में ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से बहुत अधिक प्रभावित हो गईं थीं।

ग्रियर्सन तथा चैटर्जी के समुदाय के विभागों की तुलना रोचक है। साधारणतया चैटर्जी महोदय का वर्गीकरण अधिक स्वाभाविक मालूम होता है।

ख. संक्षिप्त वर्णन

भाषा सर्वे[1] के आधार पर प्रत्येक आधुनिक भाषा का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. **सिन्धी**—सिंध देश में सिंधु नदी के दोनों किनारों पर सिंधी भाषा बोली जाती है। इस भाषा के बोलने वाले प्रायः मुसलमान हैं, इसी लिये इसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से होता है। सिंधी भाषा फ़ारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि निज के हिसाब किताब में देवनागरी लिपि का एक बिगड़ा हुआ रूप भी व्यवहृत होता है। इसकी अपनी लिपि लंडा है। कभी कभी यह गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। सिंधी भाषा की पाँच मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से मध्य भाग की 'विचोली' बोली साहित्य की भाषा का स्थान लिये हुए है। सिंध प्रदेश में ही पूर्व काल में व्राचड देश था, जहाँ की प्राकृत और अपभ्रंश इस देश के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। सिंध के दक्षिण में कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है। यह सिंधी और गुजराती का मिश्रित रूप है। सिंधी भाषा में साहित्य बहुत कम है।

२. **लहंदा**—यह पश्चिम पंजाब की भाषा है। इसकी और पंजाबी की सीमाएँ ऐसी मिली हुई हैं कि दोनों का भेद करना दुःसाध्य है। लहंदा पर दर्द या पिशाच भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पड़ता है जहाँ पैशाची प्राकृत तथा व्राचड अपभ्रंश बोली

---

१. लि. स., भूमिका, अ० १३-१५।

जाती थीं। लहंदा के अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची, तथा हिंदकी आदि हैं, किंतु ये सब नाम अनुपयुक्त हैं। पंजाबी में 'लहंदे दी बोली' का अर्थ 'पश्चिम की बोली' है। 'लहंदा' शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है। लहंदा में न तो विशेष साहित्य है और न वह कोई साहित्यिक भाषा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती जुलती बोलियों का समूह मात्र है। लहंदा का व्याकरण और शब्द समूह दोनों पंजाबी से बहुत कुछ भिन्न हैं। यद्यपि इसकी अपनी भिन्न लिपि 'लंडा' है, किन्तु आज कल यह प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

३. **पंजाबी**—पंजाबी भाषा का भूमि भाग हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह मध्य पंजाब में बोली जाती है। पंजाब के पश्चिम भाग में लहंदा और पूर्व भाग में हिंदी का क्षेत्र है। पंजाबी पर दर्द अथवा पिशाच भाषाओं का भी कुछ प्रभाव शेष है। पंजाबी भाषा लहंदा से ऐसी मिली हुई है कि दोनों का अलग करना कठिन है, किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका भेद स्पष्ट है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा कहलाती है। यह राजपूताने की महाजनी और काश्मीर की शारदा लिपि से मिलती जुलती है। यह लिपि बहुत अपूर्ण है और इसके पढ़ने में बहुत कठिनता होती है। सिक्खों के गुरु अंगद ने (१५३८-५२ ईसवी) देवनागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लंडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आज कल पंजाबी भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। मुसल्मानों के अधिक संख्या में होने के कारण पंजाब में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत है और यही वास्तव में पंजाब के शिक्षित समुदाय की माध्यम है। उर्दू भाषा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। पंजाबी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। पंजाबी में साहित्य अधिक नहीं है। सिक्खों के ग्रंथ साहब की भाषा प्रायः पुरानी हिंदी है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरों में लिखा गया है। पंजाबी भाषा में बोलियों का भेद अधिक नहीं है। उल्लेख योग्य केवल एक बोली 'डोग्री' है। यह जम्मू राज्य में बोली जाती है। 'टक्करी' या 'टाकरी' नाम की इसकी लिपि भी भिन्न है।

४. गुजराती—गुजराती भाषा गुजरात, बड़ोदा और निकटवर्ती अन्य देशी राज्यों में बोली जाती है। गुजराती में बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं है। पारसियों द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजराती पश्चिम भारत में व्यवसाय की भाषा हो गई है। भीली और खान देशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य बहुत विस्तीर्ण तो नहीं है, किन्तु तो भो उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता का (जन्म १४१३ ईसवी) गुजरात में अब भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचंद्र भी गुजराती ही थे। यह बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। इन्होंने अपने व्याकरण में गुजरात की नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। वैदिक काल से अब तक की भाषा के क्रम पूर्वक उदाहरण केवल गुजरात में ही मिलते हैं। अन्य स्थानों की आर्य्य भाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अब गुजरात में कैथी से मिलते जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है जो गुजराती लिपि कहलाती है।

५. राजस्थानी—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी अथवा राजस्थान की भाषा है। एक प्रकार से यह मध्यदेश की भाषा का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अंतिम सीढ़ी गुजराती है। राजस्थानी में मुख्य चार बोलियाँ हैं—

(१) मेवाती-अहीरवाटी—यह अलवर और देहली के दक्षिण में गुड़गाँव के आस पास बोली जाती है।

(२) मालवी—इसका केंद्र मालवा प्रदेश का वर्तमान इंदौर राज्य है।

(३) जयपुरी-हाड़ौती—यह जयपुर, कोटा और बूँदी में बोली जाती है।

(४) मारवाड़ी-मेवाड़ी—यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमीर तथा उदयपुर राज्यों में बोली जाती है।

राजस्थानी भाषा बोलने वाले भूमिभाग में हिंदी भाषा ही साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियों में से किसी को नहीं मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य मारवाड़ी में पाया जाता है। पुरानी मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कम भेद है। निज के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाड़ियों के साथ महाजनी लिपि समस्त उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

६. **पश्चिमी हिंदी**—यह मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की वर्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खड़ी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इसकी एक दूसरी बोली ब्रजभाषा, पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व साहित्य के क्षेत्र में वर्तमान हिंदी भाषा का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में और भी कई बोलियें सम्मिलित हैं, किन्तु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उत्तर-मध्य-भारत का वर्तमान साहित्य हिंदी भाषा में ही लिखा जा रहा है। पढ़े लिखे मुसलमानों में उर्दू का प्रचार है।

७. **पूर्वी हिंदी**—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पूर्वी हिंदी का क्षेत्र पश्चिमी हिंदी के पूर्व में पड़ता है। यह कुछ बातों में पश्चिमी हिंदी से मिलती है और कुछ में बाहरी समुदाय की बिहारी भाषा से। व्याकरण के अधिकांश रूपों में इसका संबंध पश्चिमी हिंदी से कम है। विशेष लक्षण इसमें पूर्वी समुदाय की भाषाओं के ही मिलते हैं। पूर्वी हिंदी भाषा में तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी बोली का दूसरा नाम कोसली भी है। कोसल अवध का प्राचीन नाम था। तुलसीदास जी के समय से श्री रामचन्द्र जी के यशोगान में प्रायः अवधी का ही प्रयोग होता रहा है। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर जी ने अपने धर्म का प्रचार करने में यहाँ की ही प्राचीन बोली अर्द्ध-मागधी का प्रयोग किया था। बहुत सा जैन साहित्य अर्द्ध मागधी प्राकृत में है। अवधी और बघेली भाषा में साहित्य बहुत है। पूर्वी

हिंदी प्राय: देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई में तो सदा इसी का प्रयोग होता है। लिखने में कभी कभी कैथी लिपि भी काम में आती है। अपने प्राचीन रूप अर्द्ध मागधी प्राकृत के समान पूर्वी हिंदी अब भी बीच की भाषा है। इसके पश्चिम में शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिंदी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

८. **बिहारी**—यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त प्रान्त से ही रहा है, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यहाँ की भाषा बँगला की बहिन है। बँगला, उड़िया और आसामी के साथ इसकी उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से हुई है। हिन्दी भाषा बिहारी की चचेरी बहिन कही जा सकती है। मागध अपभ्रंश के बोले जाने वाले भूमि भाग में ही आजकल बिहारी बोली जाती है। बिहारी भाषा में तीन मुख्य बोलियाँ हैं—

(१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर में दर्भंगा के आस पास बोली जाती है।

(२) मगही, जिसका केंद्र पटना और गया समझना चाहिये।

(३) भोजपुरी, जो मुख्यतया संयुक्त प्रान्त की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों में तथा बिहार प्रान्त के शाहबाद, चम्पारन और सारन ज़िलों में बोली जाती है।

इनमें मैथिली और मगही एक दूसरे के अधिक निकट हैं किन्तु भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। चैटर्जी महोदय भोजपुरी को मैथिली-मगही से इतना भिन्न मानते हैं कि ग्रियर्सन साहब की तरह वे इन तीनों को एक साथ रख कर बिहारी भाषा नाम देने को सहसा उद्यत नहीं हैं।[1] बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में आते हैं तथा लिखने में साधारणतया कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों की एक

---

[1] चै., बे. लै., § ५२।

अपनी लिपि अलग है जो मैथिली कहलाती है और बंगला अक्षरों से बहुत मिलती हुई है। बिहारी बोले जाने वाले प्रदेश में हिंदी ही साहित्यिक भाषा है। बिहार प्रान्त में शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी ही है।

९. **उड़िया**—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्तमान उड़िया उपप्रान्त में यह भाषा बोली जाती है। इसको उत्कली अथवा ओड्री भी कहते हैं। उड़िया शब्द का शुद्ध रूप ओड़िया है। सब से प्रथम कुछ उड़िया शब्द तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आए हैं। प्रायः एक शताब्दी के बाद का एक अन्य शिलालेख मिलता है जिसमें कुछ वाक्य उड़िया भाषा में लिखे पाए गए हैं। इनसे विदित होता है कि उस समय तक उड़िया भाषा बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उड़िया लिपि बहुत कठिन है। इसका व्याकरण बंगाली से बहुत मिलता जुलता है, इसलिये बंगाली के कुछ पंडित इसे बंगाली भाषा की एक बोली समझते थे, किन्तु यह भ्रम था। बंगाली के साथ ही उड़िया भी मागधी अपभ्रंश से निकली है। बंगाली और उड़िया आपस में बहिनें हैं; इनका संबंध माँ बेटी का नहीं है। उड़िया लोग बहुत काल तक विजित रहे हैं। आठ शताब्दी तक उड़ीसा में तैलंगों का राज्य रहा। अभी कुछ ही काल पूर्व प्रायः पचास वर्ष तक नागपुर के भोंसले राजाओं ने उड़ीसा पर राज्य किया है। इन कारणों से उड़िया भाषा में तेलगू और मराठी शब्द बहुतायत से पाये जाते हैं। मुसलमानों और अँग्रेजों के कारण फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्द तो हैं ही। उड़िया साहित्य विशेष रूप से श्री कृष्ण के संबंध में है।

१०. **बंगाली**—बंगाली गंगा के मुहाने और उसके उत्तर और पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। गाँव के बंगालियों और नगर वालों की बोली में बहुत अंतर है। साहित्य की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रचार शायद बंगला में सबसे अधिक है। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी बंगला में भेद है। पूर्वी बंगला का केंद्र ढाका है। हुगली के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी बंगला का ही एक रूप वर्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बंगला उच्चारण

की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देना प्रसिद्ध ही है। बंगाली का साहित्य अत्यंत उत्तम अवस्था में है। बंगला लिपि देवनागरी का ही एक रूपान्तर है।

११. **आसामी**—आसामी वाह्य विभाग की अंतिम भाषा है। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहाँ के लोग इसे असमिया कहते हैं। उड़िया की तरह आसामी भी बंगला की बहिन है बेटी नहीं। यद्यपि आसामी व्याकरण बंगला व्याकरण से बहुत भिन्न नहीं है, किन्तु इन दोनों के साहित्य की प्रगति पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। आसामी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं है। अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं में यह अभाव बहुत खटकता है। आसामी प्रायः बंगला लिपि में लिखी जाती है। इसमें कुछ सुधार अवश्य कर लिया गया है।

१२. **मराठी**—दक्षिण में महाराष्ट्री प्राकृत की पुत्री मराठी भाषा है। यह बंबई प्रान्त में पूना के चारों ओर, तथा बरार प्रान्त और मध्य प्रान्त के दक्षिण के नागपुर आदि चार जिलों में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ हैं। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से पूना के निकट बोली जाने वाली देशी-मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोड़ी' लिपि का व्यवहार होता है। इसका आविष्कार महाराज शिवाजी के (१६२७-८० ईसवी) सुप्रसिद्ध मंत्री बालाजी अवा जी ने किया था। मराठी का साहित्य बहुत विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

१३. **पूर्वी पहाड़ी**—यह हिमालय के दक्षिण पार्श्व में नेपाल में बोली जाती है। इसको नेपाली, पर्बतिया, गोरखाली और खस-कुरा भी कहते हैं। पूर्वी पहाड़ी भाषा का विशुद्ध रूप काठमंडू की घाटी में बोला जाता है। इसमें कुछ नवीन साहित्य भी है। नेपाल राज्य की अधिकांश प्रजा की

भाषाएँ तिब्बती-चीनी वर्ग की हैं जिनमें नेवार जाति के लोगों की भाषा 'नेवारी' मुख्य है। नेपाल के राज-दरबार में हिंदी भाषा का बहुत आदर है। नेपाली का अध्ययन जर्मन और रूसी विद्वानों ने विशेष किया है। नेपाली देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

१४. **माध्यमिक पहाड़ी**—इसके दो मुख्य भेद हैं (१) कुमाउँनी जो अल्मोड़ा-नैनीताल के प्रदेश की बोली है, और (२) गढ़वाली जो गढ़वाल राज्य तथा मसूरी के निकट पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। इन दोनों में साहित्य विशेष नहीं है। यहाँ के लोगों ने साहित्यिक व्यवहार के लिये हिंदी भाषा को ही अपना लिया है। ये दोनों पहाड़ी बोलियें भी देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं।

१५. **पश्चिमी पहाड़ी**—इस भाषा की भिन्न भिन्न बोलियें सरहिंद के उत्तर में शिमला के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती हैं। इन बोलियों का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है, न इनमें साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियों का पता चला है जिनमें संयुक्त प्रान्त के जौनसार-बावर प्रदेश की बोली जौनसारी, शिमला पहाड़ की बोली क्योंथली, कुलू प्रदेश की कुलूई और चम्बा राज्य की चम्बाली मुख्य हैं। चम्बाली बोली की लिपि भिन्न है। शेष टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

वर्तमान पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यमिक पहाड़ी का संबंध जयपुरी से और पश्चिमी पहाड़ी का संबंध मारवाड़ी से अधिक मालूम होता है। पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व काल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को ये लोग पूर्व-राजस्थान की ओर चले गए थे। मुसलमान काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, तब इन खस विजेताओं के साथ यहाँ के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस संपर्क के कारण ही राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कुछ समानता पाई जाती है।

ई—हिन्दी भाषा तथा बोलियाँ

क. हिन्दी के आधुनिक साहित्यिक रूप

१. **हिन्दी**—संस्कृत की स ध्वनि फ़ारसी में ह के रूप में पायी जाती है अतः संस्कृत के 'सिन्धु' और 'सिन्धी' शब्दों के फ़ारसी रूप 'हिन्द' और 'हिन्दी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। संस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इसका व्यवहार नहीं किया गया है। फ़ारसी में 'हिन्दी' का शब्दार्थ 'हिन्द से संबंध रखने वाला' है, किन्तु इसका प्रयोग 'हिन्द के रहने वाले' अथवा 'हिन्द की भाषा' के अर्थ में होता रहा है। 'हिन्दी' शब्द के अतिरिक्त फ़ारसी से ही 'हिन्दू' शब्द भी आया है। फ़ारसी में हिन्दू शब्द का व्यवहार 'इस्लाम धर्म के न मानने वाले हिन्द-वासी' के अर्थ में प्रायः मिलता है। इसी अर्थ के साथ यह शब्द अपने देश में प्रचलित हो गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिये हो सकता है किन्तु आज कल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमि भाग की बोलियों और उनसे संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि भाग की सीमायें पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती हैं। इस भूमि भाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र हिन्दी ही है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है किन्तु

साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के ही अन्तर्गत माना जाता है। हिन्दी भाषा का यह प्रचलित अर्थ है। इस समस्त भूमिभाग की जनसंख्या लगभग ११ करोड़ है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिये हुए भूमिभाग में तीन चार भाषायें मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियों के समुदाय को 'राजस्थानी' के नाम से पृथक् भाषा माना गया है। बिहार में मिथिला और पटना-गया की बोलियों तथा संयुक्त प्रान्त में बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बोलियों के समूह को एक भिन्न 'बिहारी' भाषा माना जाता है। उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों की बोलियें भी 'पहाड़ी भाषाओं' के नाम से पृथक् मानी जाती हैं। इस तरह से भाषा शास्त्र के सूक्ष्म भेदों की दृष्टि से 'हिन्दी भाषा' की सीमायें निम्नलिखित रह जाती हैं:—उत्तर में तराई, पश्चिम में पंजाब के अम्बाला और हिसार के ज़िले तथा पूरब में फ़ैज़ाबाद, प्रतापगढ़ और इलाहाबाद के ज़िले। दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नहीं होता और रायपुर तथा खंडवा पर ही यह जाकर ठहरती है। इस भूमिभाग में हिन्दी के दो उप-रूप माने जाते हैं जो पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी के नाम से पुकारे जाते हैं। हिन्दी बोलने वालों की संख्या लगभग ६½ करोड़ है। भाषा-शास्त्र से संबंध रखने वाले ग्रंथों में 'हिन्दी भाषा' शब्द का प्रयोग इसी भूमि भाग की बोलियों तथा उनकी आधारभूत साहित्यिक भाषाओं के अर्थ में होता है। इस पुस्तक में भी वर्तमान शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार इसी अर्थ में हिन्दी शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि शास्त्रीय दृष्टि से बिहारी भाषा के अन्तर्गत समझी जाने वाली बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी बोली का वर्णन भी प्रायः हिन्दी की बोलियों के साथ ही कर दिया गया है।

हिन्दी शब्द के शब्दार्थ, प्रचलित अर्थ, तथा शास्त्रीय अर्थ के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। साहित्यिक पुस्तकों में इस शब्द का प्रयोग चाहे किसी अर्थ में किया जाय किन्तु भाषा से संबंध रखने वाले ग्रंथों में इस शब्द

का प्रयोग आधुनिक वैज्ञानिक खोज के अनुसार दिये गये अर्थ में ही करना उचित होगा।

२. उर्दू—आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम उर्दू है जिसका व्यवहार उत्तर भारत के समस्त पढ़े लिखे मुसलमानों तथा उनसे अधिक संपर्क में आने वाले कुछ हिन्दुओं जैसे पंजाबी, देसी काश्मीरी तथा पुराने कायस्थों आदि में पाया जाता है। भाषा की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विशेष अन्तर नहीं है वास्तव में दोनों का मूलाधार एक ही है किन्तु साहित्यिक वातावरण, शब्द समूह, तथा लिपि में दोनों में आकाश पाताल का भेद है। हिन्दी इन सब बातों के लिये भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है; उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और पनपने पर भी फ़ारस और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू का जन्म पहले हुआ था। भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसल्मानों का केन्द्र देहली रहा अतः फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसल्मानों ने जनता से बातचीत और व्यवहार करने के लिये धीरे धीरे देहली के अड़ोस पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द समूह को स्वतन्त्रता पूर्वक मिला लेना इनके लिये स्वाभाविक था। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सब से प्रथम "उर्दू-ए-मुअल्ला" अर्थात् देहली के महलों के बाहर 'शाही फ़ौजी बाज़ारों' में होता था अतः इसी से देहली के पड़ोस की बोली के इस विदेशी शब्दों से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पड़ा। 'उर्दू' शब्द का अर्थ बाज़ार है। वास्तव में आरम्भ में उर्दू बाज़ारू भाषा थी। शाही दरबार से संपर्क में आने वाले हिन्दुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक था क्योंकि फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित किन्तु अपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी। जैसे

ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय भाषायें बोलने वाले भारतीय अंग्रेज़ी से अधिक प्रभावित होने लगते हैं उसी तरह मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लेने वाले हिन्दुओं में भी फ़ारसी के बाद उर्दू का विशेष आदर होना स्वाभाविक था। धीरे धीरे यह भारतीय मुसल्मान जनता की अपनी भाषा हो गई। शासकों द्वारा अपनाये जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट समुदाय की भाषा मानी जाने लगी। जिस तरह आज कल पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी के मुँह से 'मुझे चान्स (Chance) नहीं मिला' निकलता है, उसी तरह उस समय 'मुझे मौक़ा नहीं मिला' निकलता होगा। जनता इसी को 'मुझे औसर नहीं मिला' कहती होगी और अब भी कहती है। बोल-चाल की उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उर्दू का मूलाधार देहली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की भी मूलाधार है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में जो अन्तर हुआ उसे रूपक में यों कह सकते हैं कि एक तो हिन्दुआनी बनी रही और दूसरी ने मुसल्मान धर्म ग्रहण कर लिया। एक अंग्रेज़ विद्वान ग्रैहम बेली महोदय ने उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में एक नया विचार रक्खा है। उनकी समझ में उर्दू की उत्पत्ति देहली में खड़ी बोली के आधार पर नहीं हुई बल्कि इससे पहले ही पंजाबी के आधार पर यह लाहौर के आस पास बन चुकी थी और देहली में आने पर मुसल्मान शासक इसे अपने साथ ही लाये थे। खड़ी बोली के प्रभाव से इसमें बाद को कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु इसका मूलाधार पंजाबी को मानना चाहिये खड़ी बोली को नहीं। इस सम्बन्ध में बेली महोदय का सब से बड़ा तर्क यह है कि देहली को शासन केन्द्र बनाने के पूर्व १००० से १२०० ईसवी तक लगभग दो सौ वर्ष मुसल्मान पंजाब में रहे। उस समय वहाँ की जनता से संपर्क में आने के लिये उन्हों ने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी और यह भाषा तत्कालीन पंजाबी ही हो सकती है। यह स्वाभाविक है कि भारत में आगे बढ़ने पर वे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे

हों। बिना पूर्ण खोज के उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस समय सर्व सम्मत मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिन्दी दोनों की मूलाधार देहली-मेरठ की खड़ी बोली ही है।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण हैदराबाद के मुसल्मानी दरबार से आरम्भ हुआ। उस समय तक देहली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फ़ारसी को मिला हुआ था। साधारण जन समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। हैदराबाद रियासत की जनता की भाषायें भिन्न द्राविड़ वंश की थीं अतः उनके बीच में यह मुसल्मानी आर्य भाषा, शासकों की भाषा होने के कारण, विशेष गौरव की दृष्टि से देखी जाने लगी इसीलिये उसका साहित्य में प्रयोग करना बुरा नहीं समझा गया। औरंगाबादी वली उर्दू साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वली के क़दमों पर ही मुग़ल-काल के उत्तरार्द्ध में देहली और उसके बाद लखनऊ के मुसल्मानी दरबारों में भी उर्दू भाषा में कविता करने वाले कवियों का एक समुदाय बन गया जिसने इस बाज़ारू बोली को साहित्यिक भाषाओं के सिंहासन पर बैठा दिया। फ़ारसी शब्दों के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को 'रेख़ता' (शब्दार्थ 'मिश्रित') कहते हैं। स्त्रियों की भाषा 'रेख़ती' कहलाती है। दक्षिणी मुसल्मानों की भाषा 'दक्खिनी' उर्दू कहलाती है। इसमें फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल होते हैं और उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा यह कम परिमार्जित है। ये सब उर्दू के रूप रूपान्तर हैं। हिन्दी भाषा के गद्य के समान, उर्दू भाषा का गद्य-साहित्य में व्यवहार अंग्रेज़ी शासन काल में ही आरम्भ हुआ। मुद्रणकला के साथ इसका प्रचार भी अधिक बढ़ा। उर्दू भाषा अरबी-फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाती है। पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त में कचहरी, तहसील और गाँव में अब भी उर्दू में ही सरकारी काग़ज़ लिखे जाते हैं अतः नौकरीपेशा हिन्दुओं को भी इसकी जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। आगरा-देहली की तरफ़ के हिन्दुओं में इसका अधिक प्रचार होना स्वाभाविक है। पंजाबी भाषा में

साहित्य न होने के कारण पंजाबी लोगों ने तो इसे साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा है। हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश में हिन्दुओं के बीच में उर्दू का प्रभाव प्रति दिन कम हो रहा है।

३. हिन्दुस्तानी—'हिन्दुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी या उर्दू भाषा का बोलचाल का रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण इसमें फ़ारसी अथवा संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं रहती यद्यपि इसका झुकाव उर्दू की तरफ़ अधिक रहता है। कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हिन्दुस्तानी उत्तर भारत के पढ़े लिखे लोगों की बोलचाल की उर्दू है। उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से यह हिन्दी-उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है क्योंकि यह फ़ारसी-संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। दक्षिण के ठेठ द्राविड़ प्रदेशों को छोड़ कर शेष समस्त भारत में हिन्दी-उर्दू का यह व्यवहारिक रूप हर जगह समझ लिया जाता है। कलकत्ता, हैदराबाद, बंबई, कराची, जोधपुर, पेशावर, नागपुर, काश्मीर, लाहौर, देहली, लखनऊ, बनारस, पटना आदि सब जगह हिन्दुस्तानी बोली से काम निकल सकता है, अंतिम चार पाँच स्थान तो इसके घर ही हैं।

साधारण श्रेणी के लोगों के लिये लिखे गये साहित्य में हिन्दुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। क़िस्से, ग़ज़लों और भजनों आदि की बाज़ारू किताबें जो जन समुदाय को प्रिय हो जाती हैं फ़ारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापी जाती हैं। इस ठेठ भाषा में कुछ साहित्यिक पुरुषों ने भी लिखने का प्रयास किया है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'बोलचाल' हिन्दुस्तानी को साहित्यिक बनाने के प्रयोग हैं जिसमें ये सज्जन सफल नहीं हो सके।

इस पुस्तक में खड़ी बोली शब्द का प्रयोग देहली-मेरठ के आस पास बोली जाने वाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया गया है। भाषा सर्वे में

ग्रियर्सन महोदय ने इस बोली को 'वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी' नाम दिया है। मेरी समझ में खड़ी बोली नाम अधिक अच्छा है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी इन तीनों रूपों का मूलाधार यह खड़ी बोली ही है। कभी कभी ब्रजभाषा तथा अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं के मुक़ाबले में आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को भी खड़ीबोली नाम से पुकारा जाता है[1]। ब्रजभाषा और इस 'साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी' का झगड़ा बहुत पुराना हो चुका है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द तथा भाषा शास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी खड़ी लगती है कदाचित इसी कारण इसका नाम खड़ी-बोली पड़ा। हिन्दी उर्दू साहित्यिक खड़ी-बोली मात्र हैं। 'हिन्दुस्तानी' शिष्ट लोगों के बोलचाल की कुछ परिमार्जित खड़ी-बोली है।

ऊपर के विस्तृत विवेचन से हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी तथा खड़ी बोली शब्दों के मूल अर्थ, प्रचलित अर्थ, तथा शास्त्रीय अर्थ का भेद स्पष्ट हो गया

---

[1] इस अर्थ में खड़ी बोली का सब से प्रथम प्रयोग लल्लूजी लाल ने प्रेमसागर की भूमिका में किया है। लल्लू जी के ये वाक्य खड़ी बोली शब्द के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं अतः ज्यों के त्यों नीचे उद्धृत किये जाते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के आदि रूप का भी यह उद्धरण अच्छा नमूना है। लल्लू जी लाल लिखते हैं :—"एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दशमस्कंध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के लिये श्री महाराजाधिराज, सकल गुणनिधान, पुण्यवान, महाजान मारकुइस वलिजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक, गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।"

होगा। हिन्दी भाषा से संबंध रखने वाले ग्रंथों में इन शब्दों का शास्त्रीय अर्थ में ही प्रयोग होता है।

ख. हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ

ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन 'मध्यदेश' की आठ मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषा शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी नाम से पुकारा जाता है। इनमें से १ खड़ी बोली, २ बांगरू, ३ ब्रज, ४ कनौजी तथा ५ बुंदेली इन पाँच को भाषा सर्वे में 'पश्चिमी हिन्दी' नाम दिया गया है तथा १ अवधी, २ बघेली तथा ३ छत्तीसगढ़ी इन शेष तीनों को 'पूर्वी हिन्दी' नाम से पुकारा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी का संबंध शौरसेनी प्राकृत तथा पूर्वी हिन्दी का संबंध अर्द्ध मागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है। भाषा सर्वे के आधार पर इन आठ बोलियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है। बिहार की ठेठ बोलियों से बहुत कुछ भिन्न होने तथा हिन्दी से विशेष घनिष्ट संबंध होने के कारण बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी बोली का वर्णन भी हिन्दी की इन आठ बोलियों के साथ ही दे दिया गया है।

१. **खड़ी बोली**—खड़ी-बोली पश्चिम रोहिलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अम्बाला ज़िले की बोली है। हिन्दी आदि से इसका संबंध बतलाया जा चुका है। मुसलमानी प्रभाव के निटकतम होने के कारण ग्रामीण खड़ी बोली में भी फ़ारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है। किन्तु ये प्रायः अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं को तत्सम रूप में प्रयुक्त करने से खड़ी बोली में उर्दू की झलक आने लगती है। खड़ी बोली निम्नलिखित स्थानों में गाँवों में बोली जाती है:—रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला, तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग। खड़ी बोली बोलने वालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है। इस संबंध में निम्नलिखित यूरोपीय देशों की जनसंख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे:—ग्रीस ५४ लाख, बलगेरिया ४९ लाख तथा तीन भाषायें बोलनेवाला स्विटज़रलैंड ३९ लाख।

२. **बांगरू**—बांगरू बोली जाटू या हरियानी नाम से भी प्रसिद्ध है। यह देहली, कर्नाल, रोहतक और हिसार ज़िलों और पड़ोस के पटियाला, नाभा और झींद रियासतों के गाँवों में बोली जाती है। एक प्रकार से यह पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। बांगरू बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है। बांगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। हिंदी भाषा भाषी प्रदेश के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र पानीपत तथा कुरुक्षेत्र इसी बोली की सीमा के अंतर्गत पड़ते हैं अतः इसे हिंदी की सरहदी बोली मानना अनुचित न होगा।

३. **ब्रजभाषा**—प्राचीन हिंदी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी है इसलिये आदरार्थ यह ब्रजभाषा कह कर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में यह बोली अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इस में राजस्थानी और बुंदेली की कुछ कुछ झलक आने लगती है। बुलन्दशहर, बदायूँ और नैनीताल तराई में खड़ी बोली का कुछ प्रभाव शुरू हो जाता है तथा एटा, मैनपुरी और बरेली ज़िलों में कुछ कनौजीपन आने लगता है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कनौजी की अपेक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है। ब्रजभाषा बोलने वालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। तुलना के लिये नीचे लिखे जनसंख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे—टर्की ८० लाख, बेलजियम ७७ लाख, हंगरी ७८ लाख, हालैंड ६८ लाख, आस्ट्रिया ६१ लाख तथा पुर्तगाल ६० लाख।

जब से गोकुल वल्लभ संप्रदाय का केन्द्र हुआ तब से ब्रजभाषा में कृष्ण साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे धीरे यह बोली समस्त हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। १९ वीं सदी में साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली ब्रजभाषा की स्थानापन्न हुई।

४. **कनौजी**—कनौजी बोली का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच में है। कनौजी को पुराने कनौज राज्य की बोली समझना चाहिये। यह

ब्रजभाषा से बहुत मिलती जुलती है। कनौजी का केन्द्र फ़रुख़ाबाद है किन्तु उत्तर में यह हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कनौजी बोलने वालों की संख्या ४५ लाख है। ब्रजभाषा के पड़ोस में होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में कनौजी कभी भी आगे नहीं आ सकी। इस भूमिभाग में प्रसिद्ध कविगण तो कई हुए किन्तु इन सब ने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनायें कीं।

५. **बुंदेली**—बुंदेली बुंदेल खंड की बोली है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर; ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा; सागर, नृसिंहपुर, सेओनी तथा हुशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाये जाते हैं। बुंदेली बोलने वालों की संख्या ६९ लाख के लगभग है। मध्य काल में बुंदेल खंड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है किन्तु यहाँ होने वाले कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की है यद्यपि इनकी भाषा पर अपनी बुंदेली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है।

६. **अवधी**—हरदोई ज़िले को छोड़ कर अवधी शेष अवध की बोली है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी; फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तो बोली ही जाती है। इन ज़िलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार इलाहाबाद, फ़तेहपुर, कानपुर और मिर्ज़ापुर तथा जौनपुर के कुछ हिस्से में भी बोली जाती है। बिहार के मुसल्मान भी अवधी बोलते हैं। यह खिचड़ी वाला भाग मुज़फ़्फ़रपुर तक है। अवधी बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ ४२ लाख है। ब्रजभाषा के साथ अवधी में भी कुछ साहित्य लिखा गया था यद्यपि बाद को ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता में यह ठहर न सकी। पद्मावत और रामचरित मानस अवधी के दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न हैं।

७. **बघेली**—अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इसका केन्द्र रीवाँ राज्य है किन्तु यह मध्य प्रान्त के दमोह, जबलपुर, मांडला तथा बालाघाट के ज़िलों तक फैली हुई है। बघेली बोलने वालों की संख्या लगभग

४६ लाख है। जिस तरह बुंदेल खंड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रक्खा था उसी तरह रीवाँ के दरबार में बघेली कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे।

. ८. **छत्तीसगढ़ी**—छत्तीसगढ़ी को लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्यप्रान्त में रायपुर और बिलासपुर के ज़िलों तथा काँकेर, नन्दगाँव, खैरगढ़, रामगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जशपुर आदि राज्यों में भिन्न भिन्न रूपों में बोली जाती है। छत्तीसगढ़ी बोलने वालों की संख्या लगभग ३३ लाख है जो डेनमार्क की जनसंख्या के बिल्कुल बराबर है। मिश्रित रूपों को मिला कर बोलने वालों की संख्या ३८ लाख के लगभग हो जाती है जो स्विटज़रलैंड की जनसंख्या से टक्कर लेने लगती है। छत्तीसगढ़ी में पुराना साहित्य बिल्कुल ही नहीं है। कुछ नई बाज़ारू किताबें अवश्य छपी हैं।

९. **भोजपुरी**—बिहार के शाहबाद ज़िले में भोजपुर एक छोटा सा क़स्बा और पर्गना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पड़ा है यद्यपि यह दूर दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, बलिया; गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़; शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटानागपुर तक फैली पड़ी है। बोलने वालों की संख्या पूरे दो करोड़ के लगभग है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृत का केन्द्र होने के अतिरिक्त काशी हिन्दी साहित्य का भी प्राचीन केन्द्र रहा है किन्तु भोजपुरी बोली से घिरे रहने पर भी इसका प्रयोग साहित्य में कभी नहीं किया गया। काशी में रहते हुये भी कविगण प्राचीन काल में ब्रज तथा अवधी में और आधुनिक काल में आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी में लिखते रहे हैं। भाषा संबंधी कुछ साम्यों को छोड़ कर शेष सब बातों में भोजपुरी प्रदेश बिहार की अपेक्षा हिन्दी प्रदेश के अधिक निकट रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संयुक्त प्रान्त में चार मुख्य बोलियाँ बोली जाती हैं अर्थात् मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली, मथुरा-आगरा की ब्रजभाषा, लखनऊ-फ़ैज़ाबाद की अवधी तथा बनारस-गोरखपुर की

भोजपुरी। कनौजी ब्रजभाषा और अवधी के बीच की एक बोली है। देहली कमिश्नरी की बांगरू बोली हिन्दी की सरहदी बोली है। संयुक्त प्रान्त की झाँसी कमिश्नरी, मध्य भारत तथा हिन्दुस्तानी मध्य प्रान्त में बुंदेली, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है जिनके केन्द्र क्रम से झाँसी, रीवाँ तथा रायपुर हैं।

उ. हिन्दी शब्द समूह तथा अन्य भाषाओं का प्रभाव[1]

शब्द समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती है। किसी भी भाषा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप में आज तक चली जाती है। भाषा के माध्यम की सहायता से दो व्यक्ति अथवा समुदाय अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट करते हैं अतः भाषा का मिश्रित होना उसका स्वभाव ही समझना चाहिये। भाषा के संबंध में 'विशुद्ध' शब्द का प्रयोग करने से केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि किसी विशेष काल अथवा देश में उसका वह विशेष रूप प्रचलित था या है। उन्हीं अवस्थाओं में वह भाषा विशुद्ध कहला सकती है। दूसरे देश अथवा उसी देश में दूसरे काल में उसी भाषा का रूप बदल जायगा और तब इस परिवर्तित रूप को ही 'विशुद्ध' की उपाधि मिल सकेगी। यदि भरतपुर के गाँव में आजकल 'का खन उतरे हे ह्यां' कहना विशुद्ध भाषा का प्रयोग करना है तो मेरठ ज़िले में इसी पर लोगों को हँसी आ सकती है। मेरठ में 'कब उत्रे थे ह्यां' ऐसा कहना ही शुद्ध भाषा का प्रयोग करना हो सकता है। भरतपुर के उसी गाँव में पाँच सौ वर्ष बाद यही बात किसी दूसरे 'विशुद्ध' रूप में कही जावेगी और पाँच सौ वर्ष पहले कदाचित् भिन्न विशुद्ध रूप में कही जाती रही होगी। अतः अन्य समस्त भाषाओं के समान ही हिंदी शब्द समूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं का संग्रह मौजूद है।

---

[1] बे., बे. लै., § १११-१२३। लि. स., भूमिका, पृ० १२७ इ०।

साधारणतया हिन्दी शब्द समूह तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

क. भारतीय आर्य्य भाषाओं का शब्द समूह।

ख. भारतीय अनार्य भाषाओं से आये हुये शब्द।

ग. विदेशी भाषाओं के शब्द।

क. भारतीय आर्य्य भाषाओं का शब्द समूह

१. **तद्भव**—हिन्दी शब्द समूह में सबसे अधिक संख्या उन शब्दों की है जो प्राचीन आर्य्य भाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुये चले आ रहे हैं। वैयाकरणों की परिभाषा में ऐसे शब्दों को 'तद्भव' कहते हैं, क्योंकि ये संस्कृत से उत्पन्न माने जाते थे। इनमें से अधिकांश का संबंध संस्कृत शब्दों से अवश्य जोड़ा जा सकता है किन्तु जिन शब्दों का संबंध संस्कृत से नहीं जुड़ता उनमें ऐसे शब्द भी हो सकते हों जिनका उद्गम प्रा. भा. आ. भाषा के ऐसे शब्दों से हुआ हो जिनका व्यवहार प्रा. भा. आ. भाषा के इस साहित्यिक रूप संस्कृत में न होता हो। अतः तद्भव शब्द का संस्कृत शब्द से संबंध निकल आना अनिवार्य नहीं है। इस श्रेणी के शब्द प्रायः म. भा. आ. भाषाओं में होकर हिन्दी तक पहुँचे हैं अतः इनमें से अधिकांश के रूपों में बहुत परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। जनता की बोली में तद्भव शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। साहित्यिक हिन्दी में इनकी संख्या कम होती जाती है क्योंकि ये गँवारू समझे जाते हैं। वास्तव में ये असली हिन्दी शब्द हैं और इनके प्रति विशेष ममता होनी चाहिये। *कृष्ण* की अपेक्षा *कान्हा* या *कन्हैया* हिन्दी का अधिक सच्चा शब्द है।

२. **तत्सम**—साहित्यिक हिन्दी में तत्सम अर्थात् प्रा. भा. आ. भाषा के साहित्यिक रूप संस्कृत के विशुद्ध शब्दों की संख्या सदा से अधिक रही है। आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो यह और भी अधिक बढ़ती जा रही है। इसका कारण कुछ तो भाषा की नवीन आवश्यकतायें हैं किन्तु अधिकतर विद्वत्ता प्रकट करने की आकांक्षा इसके मूल में रहती है। अधिकांश तत्सम शब्द

आधुनिक काल में हिन्दी में आये हैं। कुछ तत्सम रूपवाले शब्द ऐसे भी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से तद्भव शब्दों के बराबर ही प्राचीन हैं किन्तु ध्वनियों की दृष्टि से सरल होने के कारण इनमें परिवर्तन करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुये हैं वे 'अर्द्ध तत्सम' कहलाते हैं जैसे *कान्ह* तद्भव रूप है किन्तु *किशन* अर्द्धतत्सम रूप है क्योंकि संस्कृत *कृष्ण* को लेकर यह आधुनिक समय में ही बिगाड़ कर बनाया गया है।

बंगला, मराठी, पंजाबी आदि आ. भा. आ. भाषाओं से आये हुये शब्द हिन्दी में बहुत कम हैं क्योंकि हिन्दी भाषा भाषी लोगों ने संपर्क में आने पर भी इन भाषाओं को बोलने का कभी उद्योग नहीं किया। इन अन्य भाषाओं के शब्द समूह पर हिन्दी की छाप अधिक गहरी है।

ख. भारतीय अनार्य भाषाओं से आये हुये शब्द

हिन्दी के तत्सम और तद्भव शब्द समूह में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं से तत्कालीन आर्य्य भाषाओं में ले लिये गये थे। हिन्दी के लिये ये वास्तव में आर्य्य भाषा के ही शब्दों के समान हैं। प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्द समूह में नहीं पाते थे उन्हें 'देशी' अर्थात् अनार्य भाषाओं से आये हुये शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणों ने बहुत से अधिक बिगड़े हुए तद्भव शब्दों को भी देशी समझ रक्खा था। तामिल, तेलगू, मुंडा आदि द्राविड़ या कोल आदि अन्य अनार्य भाषाओं से आधुनिक काल में आये हुये शब्द हिन्दी में बहुत कम हैं।

द्राविड़ भाषा से आये हुये शब्दों का प्रयोग हिंदी में प्रायः बुरे अर्थों में होता है। द्राविड़ *पिल्लै* शब्द का अर्थ पुत्र होता है वही शब्द हिन्दी में *पिल्ला* होकर कुत्ते के बच्चे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्णों से युक्त शब्द यदि सीधे द्राविड़ भाषाओं से नहीं आये हैं तो कम से कम उन पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव तो बहुत ही पड़ा है। मूर्द्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं की

विशेषता है। कोल भाषाओं का हिन्दी पर प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं है। हिन्दी में बीस बीस करके गिनने की प्रणाली कदाचित् कोल भाषाओं से आई है। कोड़ी शब्द स्वयं कोल भाषाओं से आया मालूम पड़ता है। इस तरह के कुछ शब्द और भी हैं।[1]

ग. विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकड़ों वर्षों से विदेशी शासन में रहने के कारण हिन्दी पर कुछ विदेशी भाषाओं का प्रभाव भारतीय भाषाओं की अपेक्षा भी अधिक पड़ा है। यह प्रभाव दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मुसल्मानी प्रभाव, (२) यूरोपीय प्रभाव। किन्तु दोनों प्रकार के प्रभावों में सिद्धांत के रूप से बहुत कुछ समानता है। मुसल्मान तथा अंग्रेज़ों दोनों के शासक होने के कारण एक ही ढंग का शब्द समूह इनकी भाषाओं से हिन्दी में आया है। विदेशी शब्दों को हम दो मुख्य श्रेणियों में रख सकते हैं—

(क) विदेशी संस्थाओं जैसे कचहरी, फ़ौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखने वाले शब्द।

(ख) विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम, जैसे नये पहनावे, खाने, यन्त्र तथा खेल आदि की वस्तुओं के नाम।

१. फ़ारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो शब्द—१००० ई० के लगभग फ़ारसी बोलनेवाले तुर्कों ने पंजाब पर क़ब्ज़ा कर लिया था अतः इनके प्रभाव से तत्कालीन हिंदी प्रभावित होने लगी थी। रासो तक में फ़ारसी शब्दों की संख्या कम नहीं है। १२०० ई० के बाद लगभग ६०० वर्ष तक हिन्दी भाषा भाषी जनता पर तुर्क, अफ़ग़ान, तथा मुग़लों का शासन रहा अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँव की बोली तक में घुस आये। तुलसी और सूर जैसे वैष्णव महाकवियों की विशुद्ध

[1] बंगाली में प्रयुक्त टवर्ग से युक्त देशी शब्दों के लिये दे., चै., बे. लै., § २६८-२७२।

हिन्दी भी विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों में सब से अधिक संख्या फ़ारसी शब्दों की है क्योंकि समस्त मुसल्मान शासकों ने, चाहे वे किसी भी नसल के क्यों न हों, फ़ारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अरबी तथा तुर्की[१] आदि के जो शब्द हिन्दी में मिलते हैं वे फ़ारसी से होकर ही हिन्दी में आये हैं।

२. **यूरोपीय भाषाओं के शब्द**—लगभग १५०० ई० से यूरोप के लोगों का भारत में आना जाना प्रारम्भ हो गया था किन्तु क़रीब तीन सौ वर्ष तक हिन्दी भाषा भाषी इनके संपर्क में अधिक नहीं आये क्योंकि यूरोपीय लोग समुद्र के रास्ते से भारत में आये थे अतः इनका कार्यक्षेत्र प्रारम्भ में समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में ही विशेष रहा। इसी कारण प्राचीन हिन्दी साहित्य में यूरोपीय भाषाओं के शब्द नहीं के बराबर

---

[१] हिन्दुस्तान के आरम्भ के ग़ज़नी, ग़ोर और ग़ुलाम आदि वंशों के मुसलमानी बादशाहों तथा भारतीय मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृ भाषा मध्य एशिया की तुर्की भाषा थी। टर्की की तुर्की इसी तुर्की की एक शाखा मात्र है। इस्लाम धर्म तथा ईरानी सभ्यता के प्रभाव के कारण इन तुर्की बोलने वाले बादशाहों के समय में भी उत्तर भारत में इस्लामी साहित्य की भाषा फ़ारसी और इस्लामी धर्म की भाषा अरबी रही, तो भी भारतीय फ़ारसी पर तथा उसके द्वारा आधुनिक आर्य भाषाओं पर तुर्की शब्द समूह का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा हिन्दी में प्रचलित तुर्की शब्दों की एक सूची नीचे दी जा रही है :—

आक़ा (मालिक), उजबक (मूर्ख), उर्दू, कलगी, कैंची, क़ाबू, कुली, कोर्मा, ख़ातुन (स्त्री) खां, ख़ानुम (स्त्री), गलीचा, चकमक (पत्थर), चाकू, चिक, तमगा, तगार, तुरुक, तोप, दरोगा, बख्शी, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, बकचा, मुचलका, लाश, सौगात, सुराक़,—ची (जैसे मशालची, खज़ाँची इ०)

पठान और रोहिला (रोह=पहाड़) शब्द पश्तो के हैं।

हैं। १८०० ई० के लगभग हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश मुग़लों के हाथ से निकल कर अँग्रेज़ी शासन में चला गया। गत सौ सवा सौ वर्षों में हिन्दी शब्द समूह पर अँग्रेज़ी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है[1]।

---

[1] हिन्दी के विदेशी शब्द समूह में फ़ारसी के बाद अंग्रेज़ी शब्दों की संख्या सब से अधिक है। अब भी नये अंग्रेज़ी शब्द आ रहे हैं अतः इनकी पूर्ण सूची बन सकना अभी सम्भव नहीं है। तो भी अंग्रेज़ी विदेशी शब्दों की एक विस्तृत सूची नीचे दी जा रही है। इन शब्दों में से कुछ तो गाँवों तक में पहुँच गये हैं। इस सूची में बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जो, अंग्रेज़ी संस्थाओं या अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों से संपर्क में आने के कारण केवल शहरों के रहने वाले बेपढ़े लोगों के मुँह से ही सुन पड़ते हैं। कुछ शब्द कई रूपों में व्यवहृत होते हैं किन्तु उनका अधिक प्रचलित रूप ही दिया गया है।

अंजन, अक्तूबर, अगिन (?) बोट, अगस्त, अटेलियन, अपर-प्रैमरी, अपील, अप्रैल, अफसर, अमरीका, अर्दली, अलबम, अस्पताल, अस्तबल, अस्मबली।

आइलैंड, आपरेशन, आर्डर, आफिस।

इंसपक्टर, इंच, इंजीनियर, इंटर, इंट्रैंस, इटली, इनकम टैक्स, इस्टेचर, इस्प्रेस, इस्काउट, इस्काटलैंड, इस्कूल, इस्पिरिट, इस्पेन, इस्पेशल, इस्टूल, इस्टीमर, इस्क्रू, इस्प्रिंग, इस्टाम, इस्पीच, इस्पेलिंग, एजंट, एजंसी, एरन, ए० फ़े०, ए० मे० एडवर्ड, ऐक्ट, ऐक्टर, ऐक्टिंग, ऐल क्लाथ, ओवरकोट, ओवरसियर, औंट।

कलट्टर, कमिश्नर, कमीशन, कम्पनी, कलंडर, कंपौंडर, कफ़, कटपीस, कर्नैल, कमेटी, कंटूनमिन्ट, कस्टरऐल, कम्पू, कान्फ्रेंस, कापी, कालर, काँजी (?) हौज, काग, कारड, कार्निस, काँग्रेस, कामा, कालिज, कानिस्टबल, क्वाटर, किलब, किरकिट, किलास, किलर्क, किलिप, कुल्तार, कुइला, कूपन, कुनैन, केक, केतली, कैच, (—औंट), कोट, कोरम, कोरट, कोको-जम (कोको-पुर्तगाली) कोको, कोचवान, कौंसिल।

गजट, गर्डर, गाटर, गार्ड, गिरमिट, गिलास, गिलट, गिन्नी, गोपाल, (वार्निश), गेट, गेटिस, गैस, गौन।

संपर्क में आने पर भी आवश्यक विदेशी शब्दों को अछूत सा मान कर न अपनाना अस्वाभाविक है। यत्न करने पर भी यह कभी संभव नहीं

घासलेटी।

चाक, चाकलेट, चिमनी, चिक, चिट, चुरट, (तामिल—शुरुट्ट) चेर, चेरमैन, चैन।

जंटलमैन, जंट, जंपर, जमनास्टिक, जज, जर्मनी, जनैल, जनवरी, जनैल-मर्चेंट, जाकट, जार्ज, जुलाई, जून, जेल, जेलर।

टन, टब, ट्रंक, ट्राली, ट्राइस्किल, ट्राम्बे, टिकट, टिकस, टिमाटर, टिम्परेचर, टिफिन, टीम, टीन, टुइल, ट्यूब, टेम, टेनिस, टेबिल, टेसन, टेलीफून, ट्रेन, टैर, टैप, टैमटेबिल, टोल, टौनहाल।

ठेठर।

डबल, डबलमार्च, डम्बल, डाक्टर, ड्रामा, डायरी, डिकशनरी, डिप्टी, डिस्टिक-बोर्ड, डिगरी, डिरैबर, डिमारिज, डिकस, डिपलोमा, डिउटी, ड्रिल, डीपो, डेरी, डैमनकाट, डौन।

तारकोल।

थर्ड, थर्मामेटर।

दर्जन, दलेल (ड्रिल), दराज, दिसम्बर।

नर्स, नकटाई, नवंबर, नंबर, नाविल, निकर, निब, निकलस, नोट, नोटिस, नोटबुक।

पसिंजर, पल्टन, परेड, पलस्तर, पतलून, पंचर, पंप, पाकट, पारक, पालिस, पार्टी, पापा, पाट, पार्सल, पास, प्राइमरी, पिलाट, पिलीडर, पिंसन, पिंसिल, पियानो, पिलेट, पिलेट फ़ारम, पिट्रोल, पिन, पिपरमंट, पिलेग, पुल्टिस, पुरफेसर, पुलिस, पुर्तगाल, पुटीन, पेटीकोट, प्रेस, पेंस, प्रेसीडेन्ट, पैसा, पैप, पैंट, पैटमैन, पोलो, पोसकाट, पौंड, पौडर।

फर्मा, फर्स्ट, फलालैन, फरवरी, फरलाँग, फारम, फिरास, फिनैल, फिटन,

हो सका है। अनावश्यक विदेशी शब्दों का प्रयोग करना दूसरी अति है। मध्यम मार्ग यही है कि अपनी भाषा के ध्वनि समूह के आधार पर विदेशी शब्दों के रूपों में परिवर्तन करके उन्हें आवश्यकतानुसार सदा मिलाते रहना

फिराक, फीस, फुटबाल, फुलबूट, फुट, फेल, फ्रेम, फैर, फैसन, फैसनेबिल, फोटो, फोटोगिराफी, फोनोग्राफ।

बंक, बम, बटेलियन, बरांडी, बटन, बकस, बग्घी, बंबूकाट, बनयाइन, बाडिस, बारिक, बालिस्टर, बास्कट, बिल्टी, बिलाटिंग, बिगुल, बिरजिस, बिरटिस, बिरग, बिलूबिलैक, बिंच, बी० ए०, बुकसेलर, बुलडाग, बुरूस, बूट, बैंड, बैरंग, बैस्कोप, बैस्किल, बैट, बैरा, बोट, बोरड, बोर्डिंग।

मशीन, मजिस्ट्रेट, मनीबेग, अनीआर्डर, मई, मन, मफलर, मलेरिया, मसीनगन, मनेजर, मटन, माचिस, मास्टर, मार्च, मानीटर, मारकीन, मिस, मिनी-सुपिल्टी, मिनट, मिस्मरेजम, मिल, मिशनरी, मिक्सचर, मीटिंग, मेजर, मेम्बर, मेट, मेम, मोटर।

रंगरूट, रबड़, रसीद, रपट, रन, रजीमिंट, राशन, रिजिस्ट्री, रिजिस्टर, रिजिस्ट्रार, रिजल्ट, रिटाइर, रिवालवर, रिकर्ड, रिबिट, रीडर, रूल, रेजीडेन्सी, रेस, रेल, रैकेट, रैफिल, रोड।

लंकलाट, लंप, लफटंट, लमलेट, लंबर, लवंडर, लंच, लाटरी, लाट, लाइब्रेरी, लालटैन, लान, लेट, लेटरबक्स, लेक्चर, लेबिल, लैंडो, लैन, लैनकिलियर, लैसंस, लैस, लैमजूस, लैमुनेड, लोट (नोट), लोकल, (गाड़ी), लोअर प्रैमरी।

वारनिश, वारकट, वाइल, वारंट, वायलिन, वालंटियर, वाइसराय, विक्टो-रिया, वी० पी०, वेटिंरूम, वोट, वैसलीन।

सम्मन, सर्जन, सरज, संटर जेल, सन्तरी, सरकस, सब—(जज), सरबिस, सार्टीफिकट, साइंस, सिगरट, सिलिंग, सिल्क, सिमिंट, सितंबर, सिकत्तर, सिंगल, सिलीपर, सिलेट, सिट, (बटन), सिबिल सर्जन, सुइटर, सुपरंडंट, सूट, सूटकेस, सेशन, सेफटी पिन, सेकिंड, सैम्पुल, सोप, सोडावाटर।

चाहिये। इस प्रकार शुद्धि करने के उपरान्त लिये गये विदेशी शब्द जीवित भाषाओं के शब्द भंडार को बढ़ाने में सहायक ही होते हैं।

कुछ पुर्तगाली[1], डच तथा फ्रांसीसी[2] शब्द भी हिन्दी ने ऐसे अपना लिये हैं कि वे सहसा विदेशी नहीं मालूम होते।

जर्मन आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं के शब्द हिन्दी में कदाचित् बिलकुल नहीं हैं। कम से कम अभी तक पहचाने नहीं जासके हैं। 'अलपका' शब्द यदि अंग्रेज़ी से नहीं आया है तो स्पैनिश हो सकता है।

हरीकेन (लालटैन), हाईकोर्ट, हाई इस्कूल, हारमुनियम, हाकी, हाल, हाल्ट, हाफ साइड, हिट, हिस्टीरिया, ह्विस्की, हिब्रू, हुड, हुक, हुर्रे, हेड मास्टर, हैट, होलडर, होस्टल, होटल, होमोपैथी।

[1] हिन्दी में कुछ पुर्तगाली शब्द भी आगये हैं किन्तु इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। पुर्तगाली शब्दों का इतनी संख्या में भी हिन्दी में पाया जाना आश्चर्य जनक है। हिन्दी में प्रचलित पुर्तगाली शब्दों की सूची नीचे दी जा रही है:—

अनन्नास, अल्मारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, क़मीज़, कप्तान, कनिस्तर, कमरा, काज, काफ़ी, काजू, काकातुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तम्बाकू, तौलिया, तौला, नीलाम, परात, परेक, पाउ (-रोटी), पादरी, पिस्तौल, पीपा, फ़र्मा, फ़ीता, फ्रांसीसी, बर्गा, बपतिस्मा, बालटी, बिसकुट, बुताम, बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज़, यशू, लबादा, सन्तरा, साया, सागू।

बंगाली भाषा में आने पर पुर्तगाली शब्दों के ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के लिये दे., चै., बे. लै., अ० ७।

[2] पुर्तगाल के लोगों की अपेक्षा फ्रांसीसियों से हिन्दुस्तानियों का कुछ अधिक संपर्क रहा था किन्तु फ्रांसीसी शब्द हिन्दी में दो चार से अधिक नहीं हैं। यही अवस्था डच भाषा के शब्दों की है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

फ्रांसीसी:—कार्तूस, कूपन, अंग्रेज।

डच:—तुरुप, बम (गाड़ी का)।

ऊ. हिन्दी भाषा का विकास

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि १००० ईसवी के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के अन्तिम रूप अपभ्रंश भाषाओं ने धीरे धीरे बदल कर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया और गंगा की घाटी में प्रयाग या काशी तक बोली जाने वाली शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंशों ने हिन्दी भाषा के समस्त रूपों को जन्म दिया। गत एक सहस्र वर्ष में हिन्दी भाषा किस तरह विकसित होती गई तथा उसके अध्ययन के लिये क्या सामग्री उपलब्ध है, इसी का यहाँ संक्षेप से वर्णन करना है।

हिन्दी भाषा के विकास की अवस्थायें साधारणतया तीन मुख्य कालों में विभक्त की जा सकती हैं:—(क) प्रचीन काल (११००-१५०० ई०), जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का स्वाभाविक प्रभाव हिन्दी भाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिन्दी की बोलियों के बाद वाले निश्चित स्पष्ट रूप नहीं मिलते। (ख) मध्यकाल (१५००-१८०० ई०), जब हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिलकुल हट गया था और हिन्दी की बोलियाँ, विशेषतया ब्रज और अवधी, अपने पैरों पर स्वतंत्रता पूर्वक खड़ी होगई थीं। (ग) आधुनिक काल (१८०० ई०—), जब से हिन्दी की बोलियों के मध्यकाल के रूपों में परिवर्तन आरम्भ होगया है तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ीबोली ने हिन्दी की अन्य बोलियों को दबा दिया है। इन तीनों कालों को क्रम से लेकर तत्कालीन परिस्थिति, भाषा सामग्री तथा भाषा के रूप पर संक्षेप में विचार किया जायगा।

क. प्राचीन काल[1] (११००-१५०० ई०)

हिदी भाषा का इतिहास जिस समय प्रारम्भ होता है उस समय हिन्दी

---

[1] ११०० ईसवी से पहले की हिन्दी भाषा की सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है। मिश्रबन्धु विनोद में दिये हुये ११०० ईसवी के पहले के कवियों के नाम

भाषा भाषी प्रदेश तीन हिन्दुस्तानी राज्यों में विभक्त था और इन्हीं तीन केन्द्रों से हम हिन्दी भाषा संबंधी सामग्री पाने की आशा कर सकते हैं। पश्चिम हिन्दुस्तान में चौहान वंश की राजधानी दिल्ली थी। पृथ्वीराज के समय में अजमेर का राज्य भी इस में सम्मिलित हो गया था। दिल्ली राज्य की सीमायें पश्चिम में पंजाब के मुसल्मानी राज्य से मिली हुई थीं। दक्षिण पश्चिम में राजस्थान के राजपूत राज्यों से इस की घनिष्ठता थी किन्तु पूरब की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चन्द कवि का संबंध क्रम से अजमेर और दिल्ली से था। पूर्वी हिन्दुस्तान में राठौर वंश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमायें पूरब में अयोध्या तथा काशी तक चली गई थीं। कन्नौज के अन्तिम सम्राट जयचन्द का दरबार साहित्य चर्चा का मुख्य केन्द्र था किन्तु यहाँ 'भाषा' की अपेक्षा 'संस्कृत' तथा 'प्राकृत' का कदाचित् विशेष आदर था। संस्कृत के अन्तिम महाकाव्य नैषध के लेखक श्री हर्ष जयचन्द के दरबार में ही राजकवि थे। कन्नौज के दरबार में भाषा साहित्य की चर्चा भी रही होगी किन्तु प्राचीन कन्नौज नगर के पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने के कारण इस केन्द्र की सामग्री अब बिलकुल भी उपलब्ध नहीं है। दक्षिण हिन्दुस्तान में महोबा का प्रसिद्ध राज्य था। महोबा के राजकवि जग नायक या जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है किन्तु इस महाकवि की मूलकृत्ति का अब पता नहीं चलता।

११९१ ई० तक हिन्दुस्तान के ये तीनों अन्तिम हिन्दू राज्य मौजूद थे, किन्तु इसके बाद दस बारह वर्ष के अन्दर ही ये तीनों राज्य नष्ट हो गये। ११९१ में मुहम्मद ग़ौरी ने पानीपत के निकट पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। अगले वर्ष इटावा के निकट जयचन्द की हार हुई

वास्तव में नाम मात्र हैं। जब तक भाषा के कुछ नमूने न मिलें तब तक इन नामों का उल्लेख करना व्यर्थ है। १००० ई० के पहले तो हिंदी भाषा का अस्तित्व भी संदिग्ध है।

और कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियों के हाथों में चला गया। शीघ्र ही महोबा पर भी मुसल्मानों ने क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह समस्त हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश पर विदेशी शासकों का आधिपत्य हो गया। विकसित होती हुई नवीन भाषा के लिये यह बड़ा भारी धक्का था जिसके प्रभाव से हिन्दी भाषा अब तक भी मुक्त नहीं हो सकी है। हिन्दी भाषा के संपूर्ण प्राचीन काल में हिन्दुस्तान पर तथा उसके बाहर शेष उत्तर भारत पर भी तुर्की मुसल्मानों का साम्राज्य क़ायम रहा (१२०६-१५२६ ई०) इन सम्राटों की मातृभाषा तुर्की थी तथा दरबार की भाषा फ़ारसी थी। इन विदेशी शासकों की रुचि हिन्दुस्तानी जनता की भाषा तथा संस्कृति के अध्ययन करने की ओर बिलकुल भी न थी अतः हिन्दुस्तान में तीन सौ वर्ष से अधिक इस साम्राज्य के क़ायम रहने पर भी दिल्ली के राजनीतिक केन्द्र से हिन्दी भाषा की उन्नति में बिलकुल भी सहायता नहीं मिल सकी। इस काल में दिल्ली में केवल अमीर खुसरो का अकेला नाम ऐसा मिलता है जिसने मनोरंजन के लिये भाषा से कुछ प्रेम दिखलाया था। इस काल के अन्तिम दिनों में पूर्वी हिन्दुस्तान में धार्मिक आन्दोलनों के कारण भाषा में कुछ काम हुआ किन्तु इसका संबंध तत्कालीन राज्य से बिलकुल भी न था। राज्य की ओर से सहायता की अपेक्षा कदाचित बाधा ही विशेष मिली। इस प्रकार के आन्दोलनों में गोरखनाथ, रामानंद तथा उनके प्रमुख शिष्य कबीर के संप्रदाय उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी भाषा के इस प्राचीन काल की सामग्री नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है:—

१. शिला लेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्र आदि,

२. अपभ्रंश काव्य,

३. चारण काव्य जिनका आरंभ हिन्दुस्तान में हुआ था किन्तु राजनीतिक उथलपथल के कारण बाद को ये राजस्थान में लिखे गये, धार्मिक ग्रंथ तथा अन्य काव्य ग्रंथ।

हिन्दुस्तान में विदेशी शासन होने के कारण इस काल में हिन्दी भाषा

में लिखे शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों आदि के अधिक संख्या में पाये जाने की संभावना बहुत कम है। इस संबंध में विशेष खोज भी नहीं की गई है नहीं तो कुछ सामग्री अवश्य ही उपलब्ध होती [१]। हिन्दी के सब से प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से संबंध रखने वाले पत्रों के रूप में समझे जाते थे जिनको नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था किन्तु इनके प्रामाणिक होने में अब बहुत संदेह किया जाता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २ अंक ४ में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिये हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रंथों के हैं अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रंथों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य[२] के अन्तर्गत रखना उचित मालूम होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने

---

[१] मध्य प्रान्त के हिन्दी शिलालेखों के संबंध में देखिये हीरालाल का 'हिन्दी के शिलालेख और ताम्रलेख' शीर्षक लेख (ना. प्र. प., भा० ६, सं० ४)।

[२] इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथों में हेमचन्द्र रचित कुमारपाल चरित तथा सिद्ध हैम व्याकरण सब से प्राचीन हैं। हेमचन्द्र की मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी अतः इन ग्रंथों का रचना काल इसके पूर्व ठहरेगा। सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल प्रतिबोध ग्रंथ ११८४ ईसवी में लिखा गया था। इसमें कुछ सोमप्रभाचार्य के स्व-रचित उदाहरण तथा तथा कुछ प्राचीन उदाहरण मिलते हैं। जैन आचार्य मेरुतुंग ने प्रबंध चिंतामणि नाम का संस्कृत ग्रंथ १३०४ ईसवी में बनाया था। इसमें कुछ प्राचीन पद्य उद्धृत मिलते हैं जो अपभ्रंश और हिन्दी की बीच की अवस्था के द्योतक हैं। शार्ङ्गधर पद्धति शार्ङ्गधर कविद्वारा संगृहीत सुभाषित ग्रंथ है जिसमें शावर मंत्र और चित्र काव्य में कुछ भाषा के शब्द आये हैं। शार्ङ्गधर रण-थंभोर के महाराज हम्मीर देव के (मृत्यु १३०० ई०) मुख्य सभासद राघव देव का पोता था अतः यह चौदहवीं सदी ईसवी के मध्य में हुआ होगा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसा किया भी है। तो भी इन नमूनों से अपनी भाषा की पुरानी परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

इस काल की भाषा के नमूनों का तीसरा समूह चारण, धार्मिक, तथा लौकिक काव्य ग्रंथों में मिलता है।[1] भाषा शास्त्र की दृष्टि से इन ग्रंथों की

---

[1] इस प्रकार के मुख्य मुख्य लेखकों तथा उनके प्रकाशित ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है:—

१. नरपति नाल्ह : वीसल देव रासो (११५५ ई०)—जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह ग्रंथ छापा गया है वे १६१२ और १९०२ ईसवी की लिखी हैं। मूल ग्रंथ के अजमेर में लिखे जाने के कारण इस की भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। कहीं कहीं कुछ खड़ी बोली के रूप भी पाये जाते हैं।

२. चन्द : पृथ्वीराज रासो—चन्द का कविता काल ११६८ से ११९२ ईसवी तक माना जाता है। वर्तमान पृथ्वीराज रासो में कितना अंश चन्द्र का रचा है इस विषय में विद्वानों को बहुत संदेह हो चला है। वर्तमान रासो में अपभ्रंश, खड़ी बोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

३. खुसरो : फुटकर काव्य—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक ३ में 'खुसरो की हिंदी कविता' शीर्षक से बाबू ब्रजरत्नदास ने खुसरो की जीवनी तथा हिन्दी काव्य संग्रह दिया है। खुसरो का समय १२५५-१३२५ ईसवी है। इसके सब प्रसिद्ध ग्रंथ फ़ारसी में हैं। इनकी हिंदी कविता के नमूनों का आधार एक मात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेख बद्ध किये जाने के कारण खुसरो की हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली होगई है। ख़ालिक बारी नाम के अरबी-फ़ारसी-हिंदी कोष में कुछ अंश हिन्दी में हैं किन्तु यह ग्रंथ भी अपूर्ण है।

४. गोरखपंथ के संस्थापक गोरखनाथ का समय १३५० ई० के लगभग माना जाता है। इनके कई ग्रंथ खोज में मिले हैं किन्तु अभी तक प्रकाशित कदाचित् एक भी ग्रंथ नहीं हुआ है। इनका लिखा एक ब्रजभाषा गद्य का ग्रंथ भी माना जाता है इसीलिये ये ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं किन्तु जब तक यह ग्रंथ

भाषा के नमूने अत्यन्त संदिग्ध हैं। इनमें से किन्हीं भी ग्रंथों की इस काल की लिखी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियें उपलब्ध नहीं हैं। बहुत दिनों मौखिक रूप में रहने के बाद लिखे जाने पर भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है अतः हिन्दी भाषा के इतिहास की दृष्टि से इन ग्रंथों के नमूने बहुत मान्य नहीं हो सकते। इस काल की भाषा के अध्ययन के लिये या तो पुराने लेखों से सहायता लेना उपयुक्त होगा या ऐसी हस्तलिखित प्रतियों से जो १५०० ईसवी से पहले की लिखी हों।

ख. मध्यकाल (१५००-१८०० ई०)

१५०० ई० के बाद हिंदुस्तान की परिस्थिति में एक बार फिर भारी परिवर्तन हुये। १५२६ ई० के लगभग देश का शासन तुर्की सम्राटों के हाथ से

तथा अन्य ग्रंथ सप्रमाण प्रकाशित न हों तब तक निश्चित रूप से इनकी भाषा के संबंध में कुछ भी कहना संभव नहीं है।

५. विद्यापति (जन्म १३६२ ई०) का भाषा पदसमूह अभी कुछ ही दिन पूर्व संग्रह किया गया है। मिथिला में संगृहीत पदों की भाषा मैथिली है तथा बंगाल में संगृहीत पदसमूह की भाषा बंगला है। इन के किसी भी वर्तमान संग्रह की भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ की नहीं मानी जा सकती। जो हो मैथिलकवि विद्यापति में हिन्दी का मिलना वैसे भी अधिक संभव नहीं था। विद्यापति के कीर्तिलता नाम के ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है। इनके अन्य ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में हैं।

६. कबीरदास (१४२३ ई०) तथा उनके गुरु भाई संतों की भाषा के संबंध में भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साधारणतया संतों की वाणी मौखिक रूप में परंपरा से चली आई है अतः उनकी भाषा में नवीनता का प्रवेश होता रहना स्वाभाविक है। सभा की ओर से कबीर के ग्रंथों का जो संग्रह छपा है उसकी प्रतिलिपि यद्यपि १५०४ ई० की लिखी हस्तलिखित प्रति के आधार पर तैयार की गई है किन्तु उसमें पंजाबीपन इतना अधिक है कि उसके काशी में रहने वाले कबीरदास की मूल वाणी होने में बहुत संदेह मालूम होता है।

निकल कर मुग़ल शासकों के हाथ में चला गया। बीच में कुछ दिनों तक सूरवंश के राजाओं ने भी राज्य किया। इस परिवर्तन काल में राजपूत राजाओं ने गंगा की घाटी पर क़ब्ज़ा करना चाहा किन्तु वे इसमें सफल न हो सके। मुग़ल तथा सूरवंश के सम्राटों की सहानुभूति जनता की सभ्यता को समझने की ओर तुर्कों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। देश में शान्ति रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल में साहित्य चर्चा भी विशेष हुई। वास्तव में यह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

प्राचीन हिंदी के अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास सोलहवीं सदी में ही प्रारंभ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिंदी भाषा भाषी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई किंतु अवधी में लिखे गये रामचरित मानस का हिंदी जनता में सब से अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य-क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका। अवधी में लिखे गये ग्रंथों में दो मुख्य हैं—जायसी कृत पद्मावत (१५४० ई०) जो शेरशाह सूर के शासन काल में लिखा गया था और तुलसीदासकृत रामचरित मानस (१५७५ ई०) जो अकबर के शासन काल में लिखा गया था। इन दोनों ग्रंथों की बहुत सी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियें मिली हैं। यद्यपि इन ग्रंथों का शास्त्रीय रीति से संपादन अभी तक नहीं हो पाया है किंतु तो भी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण बहुत अंश में मान्य हैं। सोलहवीं सदी के बाद अवधी में कोई भी प्रसिद्ध ग्रंथ नहीं लिखा गया।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन से सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में साहित्य रचना प्रारंभ हुई। हिंदी साहित्य की इस शाखा का केन्द्र पश्चिम हिंदुस्तान में था अतः ब्रजभाषा साहित्य को धर्म के साथ साथ विदेशी तथा देशी राज्यों की संरक्षता भी मिल सकी। सूरदास के ग्रंथ कदाचित् १५५० ई० तक रचे जा चुके थे किंतु सूरसागर की १७४१ ई० से पहले की लिखी कोई हस्तलिखित प्रति अभी देखने में नहीं आई है। अतः भाषा की दृष्टि से वर्तमान सूरसागर में कहाँ तक सोलहवीं सदी की ब्रजभाषा है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास ने भी विनय पत्रिका तथा गीतावली आदि

कुछ काव्यों में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। अष्टछाप समुदाय के दूसरे महाकवि नंददास के ग्रंथ भी साहित्यिक व्रजभाषा में हैं किंतु इनका भी शुद्ध प्रामाणिक संस्करण अभी अप्राप्य है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में प्रायः समस्त हिंदी साहित्य व्रजभाषा में लिखा गया है। व्रजभाषा का रूप दिन दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा संस्कृत होता चला गया है। बिहारी और सूरदास की व्रजभाषा में बहुत भेद है। बुँदेलखंड तथा राजस्थान के देशी राज्यों से संपर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में जहाँ तहाँ बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिये केशवदास (१६०० ई०) की व्रजभाषा में बुँदेली प्रयोग बहुत मिलते हैं। यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि बिहारी की सतसई को छोड़कर किसी भी अन्य व्रजभाषा कवि के किसी भी ग्रंथ का संपादन पूर्ण परिश्रम के साथ अभी तक नहीं हो पाया है। अतः भाषा की दृष्टि से प्रायः समस्त व्रजभाषा ग्रंथ समूह संदिग्धावस्था में है। भाषा का अध्ययन बिना मान्य संस्करणों के नहीं हो सकता।

मध्यकाल तथा प्राचीन काल के ग्रंथों में जहाँ तहाँ खड़ी बोली के रूप भी बिखरे पड़े हैं। रासो, कबीर, भूषण आदि में बराबर खड़ी बोली के प्रयोग वर्तमान हैं। इस से यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का अस्तित्व प्रारंभ से ही था यद्यपि इस बोली का प्रयोग हिंदू कवि और लेखक साहित्य में विशेष नहीं करते थे। यह मुसल्मानी बोली समझी जाती थी क्योंकि दिल्ली आगरे की तरफ़ मुसल्मान जनता में तथा कुछ कुछ मुसल्मान लेखकों द्वारा लिखे गये साहित्य में इस का प्रयोग प्रचलित था। मुसलमानों द्वारा इस का साहित्य में प्रयोग अठारहवीं सदी के प्रारंभ से विशेष हुआ। इस से पहले मुसल्मान कवि भी यदि भाषा में कविता करते थे तो अवधी या व्रजभाषा का व्यवहार करते थे। जायसी, रहीम आदि इस के स्पष्ट उदाहरण हैं। खड़ी बोली उर्दू के प्रथम कवि हैदराबाद दक्खिन के वली माने जाते हैं। इन का कविता काल अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में बहुत से मुसल्मान कवियों ने काव्य रचना कर के खड़ी बोली उर्दू को परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया। इन कवियों में मीर, सौदा, इंशा, ग़ालिब, ज़ौक़ और दाग़ उल्लेखनीय हैं।

ग. आधुनिक काल (१८०० ई०—)

अठारहवीं सदी के अन्त से ही परिवर्तन के लक्षण प्रारंभ हो गये थे। मुग़ल साम्राज्य के निर्बल हो जाने के कारण अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तीन बाहर की शक्तियों में हिंदी भाषा भाषी प्रदेश पर अधिकार करने की प्रतिद्वन्द्विता हुई—ये थे मराठा, अफ़ग़ान और अंग्रेज़। १७६१ ई० में हिंदुस्तान की पश्चिमी सरहद पर पानीपत के तीसरे युद्ध में अफ़ग़ानों के हाथ से मराठा शक्ति को ऐसा भारी धक्का पहुँचा कि वे फिर शक्ति संचय नहीं कर सके। किंतु अफ़ग़ानों ने भी इस विजय से लाभ नहीं उठाया। तीन वर्ष बाद १७७४ ई० में हिंदुस्तान की पूर्वी सीमा पर बक्सर के निकट अंग्रेज़ों तथा अवध और दिल्ली के मुसल्मान शासकों के बीच युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेज़ों के लिये गंगा की घाटी का पश्चिमी भाग खुल गया। १८०२ ई० के लगभग आगरा उपप्रान्त अंग्रेज़ों के हाथ में चला गया तथा १८५६ ई० में अवध पर भी अंग्रेज़ों का पूरा क़ब्ज़ा हो गया।

इन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण १९ वीं सदी के आरम्भ से ही हिंदुस्तान की भाषा हिंदी पर भारी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अठारहवीं सदी में ही ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी साथ ही मुसल्मानों के बीच में खड़ी बोली उर्दू ज़ोर पकड़ चुकी थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं के लिये खड़ी बोली गद्य के संबंध में कुछ प्रयोग करवाये जिनके फलस्वरूप फोर्ट विलियम कालिज में लल्लूलाल ने प्रेम-सागर तथा सदलमिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। प्रारंभ के इन खड़ी बोली के ग्रंथों पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। प्रेम-सागर में तो ब्रजभाषा के प्रयोग बहुत अधिक पाये जाते हैं। खड़ी बोली हिन्दी का गद्य-साहित्य में प्रचार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में हरिश्चन्द्र तथा धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द को है। प्रेस कला के साथ साथ खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ा। उन्नीसवीं सदी तक पद्य में प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा किन्तु बीसवीं सदी में आते आते खड़ी बोली हिन्दी ही समस्त हिन्दी भाषा भाषी

जनता की गद्य और पद्य दोनों ही की एक मात्र साहित्यिक भाषा हो गई है। ब्रजभाषा में कविता करने की शैली अभीतक पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई है किन्तु इसके दिन इने गिने हैं। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुपयुक्त न होगा कि बीसवीं सदी की साहित्यिक ब्रजभाषा का आधार मध्यकाल के उत्तरार्द्ध की साहित्यिक ब्रजभाषा है न कि आजकल की वास्तविक ब्रज-बोली। खड़ी बोली पद्य के प्रारम्भ के कवियों की भाषा में भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य लेखकों के समान ब्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। श्रीधर पाठक की खड़ी बोली कविता की मिठास का कारण बहुत कुछ ब्रजभाषा के रूपों का व्यवहार है। यह परिवर्तन काल शीघ्र ही दूर हो गया और अब तो खड़ी बोली कविता से भी ब्रजभाषा की छाप क़रीब क़रीब बिलकुल निकल गई है। गत डेढ़ दो सौ वर्षों से साहित्यिक खड़ी बोली—आधुनिक हिंदी और उर्दू—मेरठ बिजनौर की जनता की खड़ी बोली से स्वतंत्र होकर अपने अपने ढंग से विकास को प्राप्त कर रही है। स्वाभाविक बोली के प्रभाव से पृथक् हो जाने के कारण इन के व्याकरण का ढाँचा तथा शब्द समूह निराला होता जाता है। तो भी अभी तक आधुनिक हिन्दी उर्दू के व्याकरण का ढाँचा मेरठ बिजनौर की खड़ी बोली से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो पाया है। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेष है।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी के व्यापक प्रभाव के रहते हुये भी हिन्दी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने अपने प्रदेशों में आज भी पूर्ण रूप से जीवितावस्था में हैं। हिन्दुस्तान के गाँवों की समस्त जनता अब भी खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों के आधुनिक रूपों का ही व्यवहार कर रही है। गांव के अपढ़ लोग बोल चाल की आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को समझ बराबर लेते हैं किन्तु ठीक ठीक बोल नहीं सकते। गाँव की बोलियों में भी धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा है। जायसी की अवधी तथा आजकल की अवधी में काफ़ी भेद हो गया है। इसी तरह सूरदास की ब्रजभाषा से आजकल की ब्रज बोली कुछ भिन्न हो गई है। इन परिवर्तनों को प्रारंभ हुये सौ सवा सौ वर्ष अवश्य बीत चुके

हैं इसीलिये १८०० ई० के लगभग से हिन्दी भाषा के इतिहास में तीसरे काल का प्रारंभ माना जा सकता है। यद्यपि इस समय भेदों की मात्रा अधिक नहीं है किन्तु संभावना यही है कि ये भेद बढ़ते ही जावेंगे और सौ दो सौ वर्ष के अन्दर ही ऐसी परिस्थिति आ सकती है जब तुलसी, सूर आदि की भाषा को स्वाभाविक ढंग से समझ लेना अवध और ब्रज के लोगों के लिये कठिन हो जावेगा। इस प्रगति का प्रारंभ हो ही गया है।

ए. देवनागरी लिपि और अंक

यद्यपि हिन्दी भाषाभाषी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया, मैथिली, आदि अनेक लिपियों का थोड़ा बहुत व्यवहार है किन्तु देवनागरी लिपि का स्थान इन में सर्वोपरि है। लिखने के अतिरिक्त छपाई में तो प्राय: एक मात्र इसी का व्यवहार होता है। यदि देवनागरी लिपि की प्रतिद्वन्द्विता किसी से है तो उर्दू लिपि से है। भारतवर्ष के समस्त पढ़े लिखे मुसल्मानों तथा पंजाब और आगरा-देहली की तरफ़ के हिन्दुओं में उर्दू लिपि का व्यवहार पाया जाता है किन्तु देवनागरी लिपि की लोक प्रियता उर्दू लिपि को भी नहीं प्राप्त है। देवनागरी लिपि का प्रचार समस्त हिन्दी भाषाभाषी प्रदेश में तथा उसके बाहर महाराष्ट्र में है। ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी का अन्तिम संबंध भारत की प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से है। ब्राह्मी और देवनागरी का संबंध समझने के लिये भारतीय लिपियों के इतिहास के संबंध में विशेषज्ञों[1] ने जो खोज की है उसका सार नीचे दिया जाता है।

प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य के बाह्यरूप तथा उसमें पाये जाने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि भारत में लेखन-कला का प्रचार छठी शताब्दी पूर्व ईसा से भी बहुत पहिले मौजूद था। ऐसी अवस्था में कुछ यूरोपीय विद्वानों

---

[1] ओझा, भा. प्रा. लि., प्रथम संस्करण १८९४, दूसरा संस्करण १९१८; बूहलर, आन दि ओरिजिन आव दि इंडियन ब्राह्म अलफ़ाबेट, प्रथम संस्करण १८९५, द्वितीय संस्करण १८९८।

का यह मत बहुत सारयुक्त नहीं मालूम होता कि भारतीय लोगों ने चौथी, आठवीं या दसवीं शताब्दी पूर्व ईसा में किन्हीं विदेशियों से लिखने की कला सीखी। जो हो भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता तथा उसका उद्गम हमारे प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध नहीं रखता अतः इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मी (पाली *बंभी*) और खरोष्ठी नाम की दो लिपियें प्रचलित थीं इनमें से ब्राह्मी एक प्रकार से राष्ट्रीय लिपि थी क्योंकि इसका प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर शेष समस्त भारत में था। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय लिपियों की तरह यह भी बांईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी [1] लिपि का प्रचार था और यह आधुनिक विदेशी उर्दू लिपि की तरह दाहिनी ओर से बांईं ओर को लिखी जाती थी। यह निश्चित है कि खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है बल्कि इसका संबंध विदेशी सेमिटिक अरमइक् लिपि से है। खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में ओझा[2] लिखते हैं कि "जैसे मुसल्मानों के राज्य समय में ईरान की फ़ारसी लिपि का हिन्दुस्तान में प्रवेश हुआ और उसमें कुछ अक्षर और मिलाने से हिन्दी भाषा के मामूली पढ़े लिखे लोगों के लिये काम चलाऊ उर्दू लिपि बनी वैसे ही जब ईरानियों का अधिकार पंजाब के कुछ अंश पर हुआ तब उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का वहाँ प्रवेश हुआ, परन्तु उसमें केवल २२ अक्षर, जो आर्य भाषाओं के केवल १८ उच्चारणों को व्यक्त कर सकते थे, होने तथा स्वरों में ह्रस्व दीर्घ का भेद और स्वरों की मात्राओं के न होने के कारण यहाँ के विद्वानों में से खरोष्ठ या किसी और ने नये अक्षरों तथा ह्रस्व स्वरों की मात्राओं की योजना कर मामूली पढ़े हुये लोगों के लिये, जिनको शुद्धाशुद्ध की विशेष आवश्यकता नहीं रहती थी, काम चलाऊ लिपि बना दी।" इस लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तरी

---

[1] खरोष्ठी का शब्दार्थ 'गधे के होठ वाली' है।

[2] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० ९७।

प्रदेश, के आसपास तीसरी शताब्दी पूर्व-ईसा से तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा।

तीसरी शताब्दी ईसवी के बाद इस प्रदेश में भी ब्राह्मी के विकसित रूप व्यवहृत होने लगे। उर्दू लिपि का विकास खरोष्ठी से नहीं हुआ है। उर्दू और खरोष्ठी का मूल तो एक ही है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू लिपि मुसल्मानों के भारत में आने पर उनकी फ़ारसी-अरबी लिपि के आधार पर कुछ अक्षरों को जोड़ कर बनाई गई थी। इसका वर्णन 'हिन्दी में विदेशी ध्वनियाँ' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

मध्य तथा आधुनिक कालों की समस्त भारतीय लिपियों का उद्‌गम प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है इस संबंध में कोई भी मत भेद नहीं है स्वयं ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में दो मुख्य मत हैं। बूहलर तथा वेबर आदि विद्वानों का एक समूह ब्राह्मी का संबंध पश्चिम एशिया की किसी न किसी विदेशी लिपि से जोड़ता है। इन विद्वानों में इस विषय के विशेषज्ञ बूहलर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमिटिक लिपियों से लिये गये हैं और बाक़ी अक्षर उन्हीं के आधार पर बनाये गये हैं। कनिंघम तथा ओझा आदि विद्वानों का दूसरा समूह ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी लिपियों से नहीं मानता। ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में ओझा[1] का कहना है कि "यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुंदरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो पर इसमें संदेह नहीं कि इसका फ़िनीशिअन से कुछ भी संबंध नहीं।" ब्राह्मी लिपि का उद्‌गम चाहे जो हो किन्तु इतना निश्चित है कि मौर्य काल में इसका प्रचार समस्त भारत में था। ब्राह्मी लिपि में लिखे गये सबसे प्राचीन

---

[1] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० २८।

लेख पांचवीं शताब्दी पूर्व-ईसा काल तक के पाये गये हैं। अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही है।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार भारत में लगभग ३५० ईसवी तक रहा। इस समय तक उत्तर और दक्षिण की ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त अन्तर हो गया था। तामिल, तेलगू, ग्रंथ आदि दक्षिण भारत की समस्त आधुनिक तथा मध्य-कालीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी की दक्षिण शैली से है। चौथी शताब्दी के लगभग प्रचलित उत्तर की शैली का कल्पित नाम गुप्तलिपि रक्खा गया है। गुप्तसाम्राज्य के प्रभाव के कारण इसका प्रचार चौथी और पांचवीं शताब्दी में समस्त उत्तर भारत में था। इसके उदाहरण गुप्त कालीन शिलालेखों तथा ताम्र पत्रादि में मिलते हैं। "गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियाँ नागरी से कुछ कुछ मिलती हुई होने लगीं। सिरों के चिह्न जो पहिले बहुत छोटे थे बढ़ कर कुछ लंबे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नये रूपों में परिणत हो गये।"[१]

गुप्त लिपि के विकसित रूप का कल्पित नाम 'कुटिल लिपि' रक्खा गया है। इसका प्रचार छठी से नवीं शताब्दी ईसवी तक उत्तर भारत में रहा। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्रयोग प्राचीन है। अक्षरों तथा स्वरों की कुटिल आकृतियों के कारण ही यह लिपि कुटिल कहलाई जाने लगी। इस काल के शिलालेख तथा दानपत्र आदि इसी लिपि में लिखे पाये जाते हैं। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियें निकली हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग प्राचीन बंगला लिपि निकली जिसके आधुनिक परिवर्तित रूप बंगला, मैथिल, उड़िया तथा नेपाली लिपियों के रूप में प्रचलित हैं। प्राचीन नागरी से ही गुजराती, कैथी तथा महाजनी आदि उत्तर भारत की अन्य लिपियाँ भी संबद्ध हैं।

---

[१] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० ६०।

नागरी[१] लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में दसवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है किन्तु दक्षिण भारत में कुछ लेख आठवीं शताब्दी तक के पाये जाते हैं। दक्षिण की नागरी लिपि 'नंदि नागरी' नाम से प्रसिद्ध है और अब तक दक्षिण में संस्कृत पुस्तकों के लिखने में उसका प्रचार है। राजस्थान, संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यभारत, तथा मध्यप्रान्त में इस काल के लिखे प्रायः समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में नागरी लिपि ही पाई जाती है। "ई० स० की १० वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नांई, *अ, आ, घ, प, म, य, ष* और *स* के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं, परंतु ११ वीं शताब्दी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लंबा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११ वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती ही है और १२ वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई।...... ई० स० की १२ वीं शताब्दी से लगाकर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है।"[२] इस तरह आधुनिक देव नागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

---

[१] 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान इसका संबंध 'नागर' ब्राह्मणों से लगाते हैं अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई, कुछ 'नगर' शब्द से संबंध जोड़ कर इसका अर्थ नागरी अर्थात् नगरों में प्रचलित लिपि लगाते हैं। एक मत यह भी है कि तांत्रिक यंत्रों में कुछ चिह्न बनते थे जो 'देवनगर' कहलाते थे, इन अक्षरों से मिलते जुलते होने के कारण यही नाम इस लिपि के साथ संबंध हो गया। तांत्रिक समय में 'नागर लिपि' नाम प्रचलित था, (ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८)। इस लिपि के लिये देव-नागरी या नागरी नाम पड़ने का कारण वास्तव में अनिश्चित है।

[२] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० ६९-७०।

जिस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का परिवर्तित रूप है उसी प्रकार वर्तमान नागरी अंक भी प्राचीन ब्राह्मी अंकों के परिवर्तन से बने हैं। "लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अंकों में भी अंतर है यह अन्तर केवल उनकी आकृति में ही नहीं किंतु अंकों के लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ९ तक अंक और शून्य इन १० चिह्नों से अंक विद्या का संपूर्ण व्यवहार चलता है वैसे प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार ही न था और दहाइयों, सैकड़े, हज़ार आदि के लिये भी अलग चिह्न थे।"[1] अंकों के संबंध में इन दो शैलियों को 'प्राचीन शैली' और 'नवीन शैली' कहते हैं।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई इसका ठीक पता नहीं चलता। अशोक के लेखों में पहले पहल कुछ अंकों के चिह्न मिलते हैं। प्राचीन शैली के अंकों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न भिन्न विद्वानों ने अनेक कल्पनायें की हैं। इस संबंध में ओझा ने बूहलर का नीचे लिखा मत उद्धृत किया है जो ध्यान देने योग्य है। "प्रिन्सेप का यह पुराना कथन कि अंक उनके सूचक शब्दों के प्रथम अक्षर हैं, छोड़ देना चाहिये। परंतु अब तक इस प्रश्न का संतोषदायक समाधान नहीं हुआ। पंडित भगवान लाल ने आर्यभट्ट और मंत्र शास्त्र की अक्षरों द्वारा अंक सूचित करने की रीति को भी जांचा परंतु उसमें सफलता न हुई (अर्थात् अक्षरों के क्रम की कोई कुंजी न मिली) और न मैं इस रहस्य की कोई कुंजी प्राप्त करने का दावा करता हूँ। मैं केवल यही बतलाऊँगा कि इन अंकों में अनुनासिक, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का होना प्रकट करता है कि उन (अंकों) को ब्राह्मणों ने निर्माण किया था न कि वाणिआओं (महाजनों) ने और न बौद्धों ने जो प्राकृत को काम में लाते थे।"[2] कुछ विद्वानों के इस मत को कि भारतीय मूल अंक विदेशी अंकों से प्रभावित हैं ओझा आदि विद्वानों का समूह नहीं मानता।

---

[1] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० १०३।

[2] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० ११०।

ओझा के अनुसार "प्राचीन शैली के भारतीय अंक भारतीय आर्यों के स्वतंत्र निर्माण किये हुये हैं।"[1]

नवीन शैली के अंकक्रम का प्रचार पांचवीं शताब्दी के लगभग से सर्व साधारण में था यद्यपि शिलालेख आदि में प्राचीन शैली का ही प्रायः उपयोग किया जाता था। नवीन शैली की उत्पत्ति के संबंध में ओझा का मत है कि "शून्य की योजना कर नव अंकों से गणित शास्त्र को सरल करने वाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहिले पहल किस विद्वान ने किया इसका कुछ भी पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में हुई, फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ।"[2]

भाषा और लिपि दो भिन्न वस्तुयें होते हुये भी व्यवहार में ये अभिन्न रहती हैं। इसी कारण संक्षेप में हिन्दी भाषा की देवनागरी लिपि और हिंदी अंकों के विकास का दिग्दर्शन यहाँ करा देना उचित समझा गया। लिपि तथा अंक के चिह्नों के इतिहास के सम्बन्ध में विस्तृत सामग्री ओझा लिखित प्राचीन लिपिमाला में संकलित है।

---

[1] ओझा, भा. प्रा. लि., पृ० ११४।

[2] ,, ,, ,, ,, पृ० ११७।